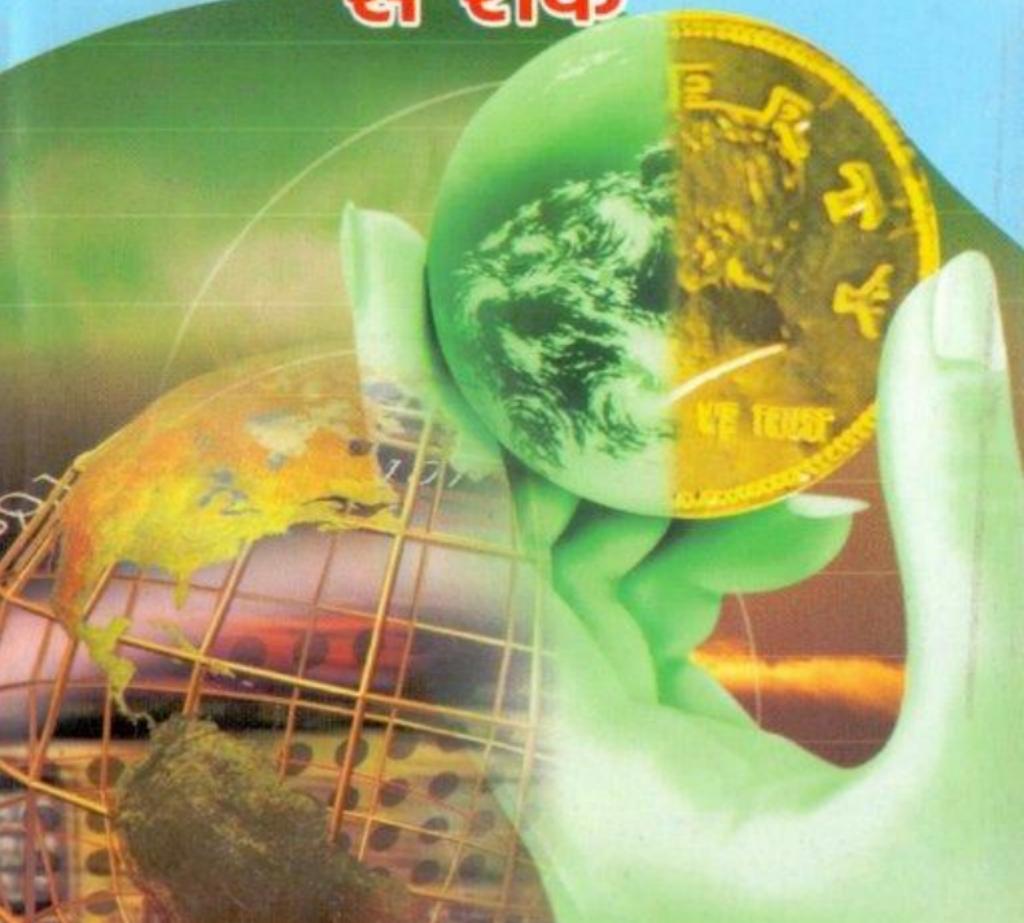


विज्ञान

को शैतान बनने
से रोकें



विज्ञान को शैतान बनने से रोकें



लेखक :
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :
युग निर्माण योजना प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

२००९

मूल्य : २१.०० रुपये

विषय-सूची

विषय

	पृष्ठ संख्या
१. सह-अस्तित्व का नैसर्गिक नियम	३
२. मनुष्य पूरी तरह मशीन न बनें	१४
३. साँस मत लो, इस हवा में जहर है	२६
४. खबरदार इस पानी को पीना मत, खतरा है	४६
५. चिल्लाइये मत, कान फट रहे हैं	६१
६. रोगों की जड़ें काटी जाएँ, पत्ते नहीं	७३
७. कीटनाशक, अंततः अपने लिए घातक	८४
८. धरती को मार डालने का कुचक्र	८६
९. अनियंत्रित प्रगति अर्थात् महामरण की तैयारी	९०६

मुद्रक

युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

सह-अस्तित्व का नैसर्गिक नियम



जर्मन प्राणिशास्त्रवेत्ता हेकल लगभग एक शताब्दी पूर्व इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सृष्टि क्रम विविध इकाइयों के सहयोग-संतुलन पर चल रहा है। जिस प्रकार शरीर के कलपुर्जे कोशिकाएँ और ऊतक मिल-जुलकर जीवन की गतिविधियों का सचालन करते हैं, उसी प्रकार संसार के विविध घटक एक-दूसरे के पूरक बनकर, सृष्टि-संतुलन को यथाक्रम बनाये हुए हैं। यह अन्यान्योश्रय व्यवस्था सृष्टिकर्ता ने बहुत ही समझ-सोचकर बनाई है और आशा रखी है कि सामान्य उपयोग के समय मामूली हेर-फेरों के अतिरिक्त किसी के द्वारा इसमें भारी उलट-पुलट नहीं की जाएगी। सृष्टा की यह इच्छा और व्यवस्था जब तक बनी रहेगी, तब तक इस धरती का अद्भुत सौंदर्य और मनोरम क्रियाकलाप भी जारी रहेगा।

उपरोक्त प्रतिपादन को हेकल ने 'इकॉलोजी' नाम दिया है। तब से लेकर अब तक इस ओर विज्ञानवेत्ताओं की रुचि घटी नहीं, वरन् बढ़ी ही है और शोध क्षेत्र के इस नये पक्ष को एक स्वतंत्र शास्त्र ही मान लिया गया है। अब सृष्टि-संतुलन विज्ञान को इकॉलोजी शब्द के अंतर्गत लिया जाता है।

इकॉलोजी शोध प्रयासों द्वारा इस निष्कर्ष पर अधिकाधिक मजबूती के साथ पहुँचा जा रहा है कि प्रकृति की हर वस्तु एक-दूसरे के साथ घनिष्ठतापूर्वक जुड़ी हुई है। ऑक्सीजन, पानी, रोशनी, पेड़-पौधे, कीटाणु, पशु-पक्षी और मनुष्य यह सब एक ही धारा-प्रवाह की अलग-अलग दीखने वाली लहरें हैं, जो वस्तुतः एक-दूसरे के साथ विविध सूत्रों द्वारा आबद्ध हो रही हैं।

सृष्टि-संतुलन शास्त्र के अन्वेषक तीन ऐसे सिद्धांत निश्चित कर चुके हैं, जिनके आधार पर प्रकृतिगत सहयोग शृंखला इस जगत् की व्यवस्था को धारण कर रही है। पहला सिद्धांत

है—परस्परावलंबन—इंटरडिपेंडेंस, दूसरा है—मर्यादा—लिमिटेशन और तीसरा—सम्मिश्रता—कांप्लेक्सिटी। यही तीनों भौतिक सिद्धांत अपने मिले-जुले क्रम से विश्व प्रवाह को गतिशील कर रहे हैं। जिस प्रकार अध्यात्म जगत् में सत-चित-आनंद की, सत्य-शिव-सुंदरम् की, सत-रज-तम की, ईश्वर जीव-प्रकृति की—मान्यता है और माना जाता है कि इन्हीं चेतन तत्त्वों के आधार पर जीवधारियों की प्रवृत्ति, मनोवृत्ति की क्रम-व्यवस्था चलती है। ठीक इसी तरह संतुलन शास्त्री यह मानते हैं कि सृष्टि क्रम की सुव्यवस्था इंटरडिपेंडेंस, लिमिटेशन और कांप्लेक्सिटी पर निर्भर है।

परस्परावलंबन, (इंटरडिपेंडेंस) का सिद्धांत यह बताता है कि प्रकृति की हर चीज अन्य सब वस्तुओं के साथ जुड़ी-बँधी है। किसी भी जीव की सत्ता अन्य असंख्य जीवों के अस्तित्व पर निर्भर है। मानवी सत्ता स्वतंत्र नहीं है। यदि पेड़-पौधे ऑक्सीजन पैदा करना बंद कर दें तो वह बेमौत मर जायेगा। विशालकाय वृक्ष का जीवन उन छोटे कीटाणुओं पर निर्भर है, जो सूखे पत्तों का विघटन कर उन्हें खाद के रूप में परिणत करते हैं और जड़ों के पोषण की व्यवस्था जुटाते हैं। जमीन में रहने वाले बैकटीरिया किस प्रकार जड़ों को खुराक पहुँचाते हैं और चीटी, दीमक आदि छोटे कीड़े किस प्रकार जड़ों तक हवा, रोशनी और नमी पहुँचाने में अधिक परिश्रम करते हैं। इसे जाने बिना हम वृक्ष के जीवन आधार का सही मूल्यांकन कर ही नहीं सकते। वृक्ष अपने आप में स्वतंत्र नहीं हैं, वे कोटि-कोटि जीवन घटकों के अनुग्रह पर आश्रित और जीवित हैं।

वन-जंतुओं की प्रमुख खाद्य आवश्यकता, जो पौधा पूरी करता है, वह भी पराश्रयी पाया गया है। छोटे कीड़े कई तरह के बीज और खाद इधर से उधर लिए फिरते हैं, यह सीधा उसी से अपना जीवन ग्रहण करता है। कीड़ों की हरकतें बंद करने के

उपरांत प्रयोगकर्ताओं ने देखा कि खाद, पानी की सुविधा देने के बाद भी पौधा उगने और बढ़ने की क्षमता खोता चला गया।

संतुलन शास्त्र का दूसरा नियम मर्यादा-लिमिटेशन—यह सिद्ध करता है कि हर प्राणी और हर पदार्थ की एक मर्यादा है, जब वह उससे आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है, तभी रोक दिया जाता है। वंश वृद्धि की क्षमता प्राणियों में निःसंदेह अद्भुत है, पर इससे भी तेज कुल्हाड़ी इस अभिवर्धन को नियंत्रित करने के लिए कोई अदृश्य सत्ता सहज ही चलाती रहती है। प्राणी सृजन कितना ही क्यों न करे, पर दौड़ में मृत्यु को नहीं जीत सकता है। जैसे ही जन्म दर की दौड़ बढ़ती है वैसे ही मृत्यु की बाधिन, उसे दबोच कर रख देती है। प्राणियों का शरीर—पेड़ों का विस्तार एक सीमा पर जाकर रुक जाता है। पौधे एक सीमा तक ही सूर्य किरणों को सोखते हैं और निर्धारित मात्रा में ही ऑक्सीजन पैदा करते हैं। उपभोक्ताओं की संख्या और उपयोग की मात्रा जब तक उत्पादन के अनुरूप रहती है, तब तक ढर्हा ठीक तरह चलता रहता है, पर जब उत्पादन से उपभोग की मात्रा बढ़ जाती है तो विनाश का देवता उन उपभोक्ताओं के गले मरोड़ देता है। संतुलन जब तक रहेगा तब तक शांति रहेगी, पर जहाँ भी जिसने भी मर्यादा का उल्लंघन करने वाला सिर उठाया, वही कोई छिपा हुआ भैरव-वेताल उठे हुए सिर को पत्थर मारकर कुचल देता है। आततायी और उच्छृंखल मनुष्यों के अहंकार को किसी न किसी कोने से उभर पड़ने वाली प्रतिक्रिया का शिकार बनना पड़ता है। पेट की आवश्यकता से अधिक आहार करने वाले अपच और उदर शूल का कष्ट सहते हैं। प्रकृति उल्टी और दस्त कराकर उस अपहरण को वापिस करने के लिए बाध्य करती है।

सम्मिश्रता-कांप्लेक्सटी का सिद्धांत बताता है कि जिनके साथ हमारा प्रत्यक्ष संबंध नहीं दीखता, उनके साथ भी दूर का संबंध रहता है और घटनाक्रम प्रकारांतर से—परोक्ष रूप में उन्हें भी

प्रभावित करता है, जो उससे सीधा संबंध नहीं समझते। विश्व में कहीं भी घटित होने वाले घटना क्रम को हम यह कहकर उपेक्षित नहीं कर सकते कि इससे हमारा क्या संबंध है? प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप से सही, हम कहीं भी—किसी भी स्तर की घटना से अवश्यमेव प्रभावित होते हैं।

अमेरिका का राष्ट्रीय पक्षी गरुड़ अब तक अपना अस्तित्व गँवाने की तैयारी में है। इस आत्महत्या जैसी सत्ता निःसृति का क्या कारण हुआ, इसकी खोज करने वाले जीव शास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पौधों को कीड़ों से बचाने के लिए जिन डी. डी. टी. सरीखे रासायनिक द्रवों का उपयोग होता रहा है, उससे गरुड़ के स्वाभाविक आहार में प्रतिकूलता भर गई, फलस्वरूप वह प्रजनन क्षमता खो बैठा। अब वह पक्षी वंशवृद्धि की दृष्टि से प्रायः निखट्टू ही बनकर रह गया है। ऐसी दशा में इसके अस्तित्व का अंत होना स्वाभाविक ही था। यों रासायनिक घोलों का गरुड़ की प्रजनन शक्ति से सीधा संबंध नहीं बैठता, पर संबंध सूत्र मिलाने पर एक के लिए किया गया प्रयोग दूसरे के लिए वंशनाश जैसी विपत्ति का कारण बन गया। इस प्रकार की संबंध सूत्रता हमें अन्य प्राणियों की हलचलों अथवा अन्यत्र होने वाली घटनाओं के साथ जोड़ती है।

साइकॉलोजी विशेषज्ञ वरी कामगर यह कहते हैं कि देश और जाति का अंतर कृत्रिम है। मनुष्य-मनुष्य के बीच की दीवार निरर्थक है। इतना ही नहीं, प्राणधारियों और जड़ समझे जाने वाले पदार्थों को एक-दूसरे से स्वतंत्र समझना भूल है। हम सब एक ऐसी नाव पर सवार हैं, जिसके ढूबने-उतारने का परिणाम सभी को समान रूप से भुगतना पड़ेगा। राकफेलर यूनिवर्सिटी (न्यूयार्क) के पैथोलोजी एंड माइक्रोबायोलॉजी के प्राध्यापक वायुवास का कथन है कि वैश्विक चक्रों, कार्सिक साइकल्स के थपेड़ों से हम इधर-उधर गिरते पड़ते चल रहे हैं। हमारे पुरुषार्थ की अपनी महत्ता है, पर ब्रह्मांडीय हलचलें भी हमें कम विवश और बाध्य नहीं करतीं।

वे कहते हैं कि विज्ञान की सभी शाखाएँ परस्पर जुड़ी हुई हैं, इसलिए उनका सर्वथा प्रथम विभाजन उचित नहीं। भौतिक विज्ञान और जीव विज्ञान की विविध शाखाओं का समन्वयात्मक अध्ययन करके ही हम किसी पूर्ण निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

मिश्र में आस्वान बाँध बँधने से अब नील नदी के तटवर्ती खेतों को प्राकृतिक खाद पहुँचने का लाभ मिलना बंद हो गया है, फलस्वरूप क्षेत्र की उर्वरा शक्ति को भारी क्षति पहुँची है।

अफ्रीका महाद्वीप के जांबिया और रोडेशिया देशों में पिछले दिनों कई बाँध बने हैं, इनके कारण अनपेक्षित समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं और वे बाँधों से मिलने वाले लाभ की तुलना में कम नहीं वरन् अधिक ही हानिकारक एवं जटिल हैं। समुद्रों के मध्य जहाँ-तहाँ खिचरे हुए छोटे टापुओं पर चालू की गई उत्साहवर्धक विकास योजनाओं का बुरा असर पड़ता है और उन प्रयासों को घाटे का सौदा माना गया है।

इस तथ्य को मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र में क्रियाशील बनाये रखकर ही मानवीय प्रगति, सुख-शांति और सुव्यवस्था की कल्पना की जा सकती है। नियम-व्यवस्थाओं की चादर छोटी है, किंतु मनुष्य की महत्वाकांक्षाएँ विशालकाय। लालसाएँ सुरसा की तरह बढ़ती जाएँ और ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र उसी के समर्थन में जुट पड़ें तो इस खींचतान में उस चादर का फटना और मनुष्यों का शीत में ठिठुरना, प्रकृति की निष्चुर नियम व्यवस्था में दबोचे जाना स्वाभाविक है। चाहे वह वातावरण जल, वायु और पृथ्वी के विषाक्त होने के रूप में हो या युद्ध की विभीषिका के रूप में—अर्थ एक ही होगा कि मनुष्य के पाँव भौतिक लालसाओं, तृष्णा, अहंता और विलासिता की ओर तेजी से बढ़ते रहे तो कल न सही परसों वह विभीषिका निश्चित रूप से आयेगी, जो इस धरती के साथ उसकी संतति को भी चाट जायेगी, महत्वाकांक्षाएँ तो नष्ट होंगी ही।

● प्रकृति की सुव्यवस्था को छेड़ने की मानवीय भूल

२२ अप्रैल, १९७१ को अमेरिका में अनेक स्थानों पर “पृथ्वी दिवस” (अर्थ-डे) मनाया गया। उस दिन लोगों से पैदल, रिक्षा या ताँगा में चलने की अपील की गई, किसी भी मशीन वाली फैक्ट्री या कारखाने न चलाने का आग्रह किया गया। उस दिन सब काम अपने हाथों से करने को कहा गया, उसी दिन के लिए “अर्थ-टाइम्स” नाम का एक विशेष समाचार बुलेटिन निकाला गया, सभाएँ हुईं, जुलूस निकाले गये, इसका उद्देश्य जनमानस का ध्यान इस ओर आकर्षित करना था कि आज की जीवन-पद्धति, मशीनों, कारखानों से पर्यावरण इस तरह दूषित हो रहा है कि पृथ्वी में विनाश की संभावनाएँ अभिव्यक्त हो चलीं, अतएव मनुष्य को उससे बचना चाहिए। इस अभूतपूर्व आयोजन ने संसार भर के लोगों को झकझोर दिया।

आज मनुष्य जाति ने अत्यधिक वैभव विलासिता का जो अदूरदर्शी दृष्टिकोण अपनाया है और जिसके लिए वह प्रकृति की गोद से उत्तरकर निरंतर कृत्रिमता व यंत्रीकरण की ओर दौड़ता चला जा रहा है, क्या वह उसके लिए हितकारक भी है ? या फिर उस चिंतन, उस दृष्टिकोण में किसी तरह संशोधन की आवश्यकता है। अब तक परिस्थितियों ने जो मोड़ लिया, प्रगति जिस चौराहे तक पहुँची है, उससे प्रगति कम, भटकाव अधिक प्रतीत हो रहा है। आज का मनुष्य उस कगार पर आ गया है, जिससे आगे बढ़ने पर सर्वनाश ही सुनिश्चित है। अभियांत्रिकी आधुनिक सभ्यता के वह दुष्परिणाम अब बुरी तरह सामने आ गये हैं।

राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में वातावरण को जीवन योग्य बनाये रखने की समस्या पर विचार करने के लिए जो अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन ‘स्टाक होम’ में हुआ था, उसका सम्मिलित स्वर भी यही था—“हमारे पास एक ही पृथ्वी है। इसे जीने लायक बनाये रखना चाहिए।” सम्मेलन का सुझाव था, प्राकृतिक भंडारों का मितव्ययिता

के साथ उपयोग किया जाए, प्रयोग की हुई वस्तुओं को पुनः काम के लायक बनाया जाए, बढ़ते हुए शोर को रोका जाए और वायु एवं जल के बढ़ते हुए प्रदूषण को रोका जाए।

जिस क्रम से हमारी तथाकथित 'प्रगति' प्राकृतिक संतुलन को बिगड़ रही है, उसे दूर दृष्टि से देखा जाए तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि तात्कालिक लाभ में अंधे होकर, हम भविष्य को घोर अंधकारमय बनाने के लिए आतुर हो रहे हैं। सारा दोष उस मानवीय चिंतन—उस जीवन पद्धति को है, जिसमें प्राकृतिक व्यवस्था की ओर ध्यान दिये बिना कम से कम श्रम और अधिकतम विलासित के साधन एकत्र करने की धुन लगी हुई है। व्यक्ति के इस उतावलेपन ने सामूहिक रूप धारण कर लिया है, इससे प्राकृतिक व्यवस्थाओं का विचलित होना स्वाभाविक है। मशीनीकरण, प्राकृतिक संपदाओं का दोहन और उनका अंधाधुंध उपभोग, राष्ट्रों के बीच सर्वशक्तिमान् बनने की महत्वाकांक्षाएँ और उसके फलस्वरूप आणविक अस्त्र-शस्त्रों की होड़, सब मिलाकर परिस्थितियाँ नियंत्रण से बाहर हो चली हैं, इससे विचारशीलों का चिंतित होना और तथाकथित प्रगति पर रोक लगाना आवश्यक हो गया है। यह सब एकमात्र इस बात पर आधारित है कि मनुष्य अपना चिंतन, अपना लक्ष्य, अपने दृष्टिकोण में मानवतावादी आदर्शों का समावेश करे, वह जीवन नीति अपनाये, जिसमें भरपूर श्रम में जीवनयापन का प्राकृतिक ढंग उभरकर सामने आ सके।

मनुष्य की दुर्भावनाएँ जब तक व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रहती हैं, तब तक उसका प्रभाव उतने लोगों तक सीमित रहता है, जितनों से कि उस व्यक्ति का संपर्क रह सके, परंतु जब राजसत्ता और विज्ञान का भी सहारा मिल जाये तो उन दुर्भावनाओं को विश्वव्यापी होने और सर्वाग्रही संकट उत्पन्न करने में कुछ भी कठिनाई नहीं रहती। स्वार्थों का संघर्ष, संकीर्णता और अनुदारता का दृष्टिकोण, शोषण और वर्चस्व का मोह आज असीम नृशंसता

के रूप में अट्टहास कर रहा है। राजसत्ता और विज्ञान की सहायता से उसका जो स्वरूप बन गया है, उससे मानवता की आत्मा थर-थर काँपने लगी है। प्रगति के नाम पर मानव प्राणी की चिर-संचित सम्पत्ता का नामोनिशान मिटाकर रख देने वाली परिस्थितियों की विशाल परिमाण में जो तैयारी हो चुकी है, उसमें चिनगारी लगने की देर है कि यह बेचारा भू-मंडल बात ही बात में नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। मानव मन की दुर्भावनाओं की घातकता अत्यंत विशाल है। लगभग ८००० मील व्यास का यह नन्हा-सा पृथ्वी ग्रह उसके लिए एक ग्रास के बराबर है।

अधिकाधिक लाभ कमाने के लोभ ने अधिकाधिक उत्पादन पर ध्यान केंद्रित किया है। मानवी रुचि में अधिकाधिक उपभोग की ललक उत्पन्न की जा रही है, ताकि अनावश्यक किंतु आकर्षक वस्तुओं की खपत बढ़े और उससे निहित स्वार्थों को अधिकाधिक लाभ कमाने का अवसर मिलता चला जाये। इस एकांगी घुड़दौड़ ने यह भुला दिया है कि इस तथाकथित प्रगति और तथाकथित सम्पत्ता का सृष्टि-संतुलन पर क्या असर पड़ेगा ? इकॉलाजिकल बैलेंस गैंवाकर, मनुष्य सुविधा और लोभ प्राप्त करने के स्थान पर ऐसी सर्प-विभीषिका को गले में लपेट लेगा, जो उसके लिए विनाश का संदेश ही सिद्ध होगी। एकांगी भौतिकवाद, अनियंत्रित उच्छृंखल दानव की तरह अपने पालने वाले का ही भक्षण करेगा। यदि विज्ञान रूपी दैत्य से कुछ उपयोगी लाभ उठाना हो तो उस पर आत्मवाद के मानवीय सदाचार का नियंत्रण अनिवार्य रूप से कसना ही पड़ेगा।

● प्रगति करें, पर विकृति न बढ़ाएं

मनुष्य प्रगति की दिशा में आगे बढ़े, यह उचित है। विज्ञान की प्रगति इस युग की एक बड़ी उपलब्धि है। उसने मनुष्य जाति को एक नया उत्साह दिया है कि उज्ज्वल भविष्य के लिए—अधिकाधिक सुख-संवर्धन के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है, सो किया भी जा रहा है। इन्हीं शताब्दियों में वैज्ञानिक

खोजों ने मनुष्य को बहुत कुछ दिया है और कितने ही क्षेत्रों में आशा भरा उत्साह उत्पन्न किया है। इन उपलब्धियों के महत्व को झुठलाया नहीं जा सकता।

वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ मानवी सुख-सुविधाओं में जो वृद्धि हुई है, उसकी महत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। यातायात, कल-कारखाने, कृषि व शिल्प, विनोद, चिकित्सा, शिक्षा आदि के क्षेत्रों में आज का मनुष्य सौ-दो सौ वर्ष पूर्व के लोगों की तुलना में कहीं अधिक साधन संपन्न है। बिजली, रेडियो, तार, टेलीफोन, प्रेस, अखबार आदि के सहारे जो सुविधाएँ मिली हैं, वे अम्यास में आने के कारण कुछ आश्चर्यजनक भले ही प्रतीत न होती हों पर आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व का कोई मनुष्य आकर यह सब देखे और अपने जमाने की परिस्थितियों के साथ तुलना करे तो उसे प्रतीत होगा कि वह किसी अनजाने दैत्यलोक में विचरण कर रहा है। द्रुतगामी वाहनों की अपनी शान है, रेल, मोटर, वायुयान, पनडुब्बी, जल पोतों के कारण मिलने वाली सुविधाएँ कम नहीं आँकी जानी चाहिए। चिकित्सा एवं शल्य क्रिया की उपलब्धियाँ कम नहीं हैं। सिनेमा और टेलीविजन, रेडियो के माध्यम से गरीब लोगों के लिए भी मनोरंजन की सुविधा संभव हो गई है। अंतरिक्ष यात्रा के क्षेत्र में हुई प्रगति ने मनुष्य के चरण, तीन चरण में तीन लोक नाप लेने वाले वामन भगवान् जितने लंबे बना दिये हैं। शस्त्रों की दुनिया में अब मारण का व्यवसाय इतना सरल बन गया है कि एक बच्चा भी पृथ्वी पर निवास करने वाले समस्त प्राणधारियों का अस्तित्व क्षण भर में समाप्त कर सकता है।

पशु-पक्षियों और वृक्ष-वनस्पतियों की वर्णसंकर जातियों उत्पन्न करने की कृत्रिम गर्भाधान, टैस्ट ट्यूबों की सफलता प्राप्त करके, मनुष्य सृष्टि निर्माता-विघाता के पद पर आसीन होने की तैयारी कर रहा है। विशालकाय स्वसंचालित यंत्रों से पौराणिक दैत्यों का काम लिया जा रहा है। वरुण से जल भराने, वायु से

पंखा झलवाने, अग्नि से ऋतु प्रभाव संतुलित कराने का काम रावण लेता था। आज जल-कल, बिजली की बत्ती, फैन, रेफ्रिजरेटर, हीटर, कूलर आदि के माध्यम से वे रावण जैसी उपलब्धियाँ हर किसी के लिए संभव हो गई हैं। पुष्पक विमान पर अब हर कोई उड़ सकता है और समुद्र लौंघने की हनुमान् जैसी शक्ति अब किसी भी वायुयान और जलयान यात्री को सहज ही उपलब्ध है।

‘सोमियोलॉजी’ नामक मस्तिष्क विद्या की एक शाखा के अंतर्गत ऐसे अनुसंधान हो रहे हैं, जिससे मनुष्यों की चिंतन पद्धति कुछ समय के लिए आवेश रूप में बदली जा सकेगी। जिस प्रकार प्लास्टिक सर्जरी से अंगों की काट-छाँट करके, कुरुपता को सुंदरता में बदल दिया जाता है, उसी प्रकार मस्तिष्क की विचारणा एवं संवेदना का आधार भी बदल दिया जाए, जिससे वह सदा के लिए अपने मस्तिष्क चिकित्सक का आज्ञानुवर्ती बनने के लिए प्रसन्नतापूर्वक सहमत हो जाए।

समुद्र के खारे पानी को मीठे जल में बदलने की, कृत्रिम वर्षा कराने की, रेगिस्तानों को उपजाऊ बनाने की, अणु शक्ति से ईंधन का प्रयोजन पूरा करने की, समुद्र-संपदा के दोहन की, जराजीर्ण अवयवों का नवीनीकरण करने की योजनाएँ ऐसी ही हैं, जिनसे आँखों में आशा की नई ज्योति चमकती है।

इन उपलब्धियों से मदोन्मत्त होकर मनुष्य अपने को प्रकृति का अधिपति मानने का अहंकार करने लगा है और अपने को सर्वशक्तिमान् बनाने की धून में मारक अणु आयुध बनाने से लेकर—जीवनयापन की प्रक्रिया में उच्छृंखल-स्वेच्छाचार बरतने के लिए आतुरतापूर्वक अग्रसर हो रहा है। सफलताओं के जोश में उसने होश गँवाना आरंभ कर दिया है। इसका दुष्परिणाम भी उसके सामने आ रहा है। अमर्यादित और अनैतिक प्रगति प्रकृति को स्वीकार नहीं, वह उसे रोकने का प्रयास करेगी ही, आखिर उसे भी तो अपना संतुलन बनाये रखना है।

अर्नल्ड टायनवी ने अपने ग्रंथ 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' में पाश्चात्य सम्यता की स्थिति और प्रगति पर अनेक दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला है और यह निष्कर्ष निकाला है कि 'प्रगति के अत्युत्साह में दिशा भूलकर हम जिस ओर, जिस तेजी से बढ़ते चले जा रहे हैं, उसका अंत महाविनाश के रूप में ही सामने प्रस्तुत होगा। टायनवी ने अन्य ग्रंथ 'नेशनेलिटी एंड दि वार' और 'दि न्यू योरोप' में पाश्चात्य जन-मानस का विश्लेषण करते हुए उसकी लक्ष्यविहीन प्रगति के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला है कि यह अग्रगमन निकट भविष्य में हमें पीछे हटने से भी अधिक महँगा पड़ेगा।



मनुष्य पूरी तरह मशीन न बनें

*

प्रकृति की व्यवस्थाएँ इतनी सर्वांगपूर्ण हैं कि उसे ही परमात्मा के रूप में मान लिया जाए तो कुछ अनुचित नहीं होगा। शिशु जन्म से पूर्व माँ के स्तनों में ठीक उस नन्हे बालक की प्रकृति के अनुरूप दूध की व्यवस्था, हर प्राणी के अनुरूप स्वतंत्र खाद्य व्यवस्था बनाकर वनस्पति जगत् में संतुलन बनाये रखने की तरह, दुर्बुद्धि को ठिकाने लगाने वाली उसकी कठोर नियम व्यवस्था भी सुविदित है। जिन प्राणियों में प्रजनन बढ़ता है, उनका सर्वनाश वह हारी-बीमारियों के रूप में करती रहती है। प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग ही अकाल और अभाव के रूप में दिखाई देता है। मानवीय स्वभाव की कृत्रिमताएँ और प्रकृति के बहिष्कार का दंड शारीरिक आधि-व्याधि के रूप में भुगतना पड़ता है। यह नियम व्यवस्थाएँ इस बात की प्रतीक हैं कि प्रकृति में विवेकपूर्ण आचरण की संवेदना पूरी तरह विद्यमान है; उसका व्यक्तिगत उल्लंघन, व्यक्तिगत दंड के रूप में तथा सामूहिक उल्लंघन, सामूहिक दंड के रूप में हर किसी को भुगतना पड़ता है इस नियम व्यवस्था से सृष्टि का कोई भी प्राणी बच नहीं सकता।

प्रकृति ने उतने साधन पहले से ही जुटाकर रखे हैं, जिनका यथोचित और उपयोगी मात्रा में उपयोग किया जाता रहे तो हर व्यक्ति सुखी जीवन, नीरोगिता का जीवन, पारस्परिक शांति और सद्भाव का जीवन जी सकता है, पर जब इंद्रियों की सामर्थ्य से बहुत अधिक और असीम उपभोग की तृष्णा बढ़ी तो स्वाभाविक था कि मनुष्य कोई ऐसा रास्ता अपनाता, जिसमें कम समय में अधिक से अधिक उत्पादन बढ़ा सकता। इस महत्वाकांक्षा और अनियंत्रित भोग बुद्धि ने अभियांत्रिकी को जन्म दिया। हाथ का काम, पैर का काम, यहाँ तक कि बुद्धि का काम भी मशीनों ने ले लिया। हाथ-पौँव

चलते रहें इसके लिए परमात्मा ने मनुष्य में इच्छाएँ पैदा कीं, पर उसका यह उद्देश्य कभी नहीं रहा कि इच्छाएँ उसकी साध्य बन जाएँ। यही भूल हुई, जिससे मनुष्य स्वयं मशीन बनता जा रहा है। हर काम मशीन करे तो फिर हाथ, पाँवों में जंग लगना स्वाभाविक ही है, बीमारियाँ बढ़नी स्वाभाविक हैं। “खाली दिमाग शैतान का घर” की सूक्ति के अनुसार बौद्धिक भ्रष्टाचार, पाप और पतन की संभावनाओं का विकास स्वाभाविक ही था और इन दिनों वही हो भी रहा है। यंत्रीकरण के दुष्परिणाम भुगत रहे हैं सो अलग, आज तो यह साधन ही सामूहिक सर्वनाश के कारण बन बैठे हैं।

● पैदल चलना भी आवश्यक

आये दिन वायुयान दुर्घटनाओं, रेलों की भिड़ंत और उससे सैकड़ों लोगों की मृत्यु समाचार पत्रों में आती रहती हैं, उन्हें भी आकस्मिक व अपवाद के रूप में ही माना जाता है। आज जबकि संसार की जनसंख्या भीषण रूप में बढ़ रही है। संभव है, इन दुर्घटनाओं का मूल्य न आँका जाता हो, पर यातायात के यांत्रिक साधनों की वृद्धि ने जन-जीवन को दुर्घटनाओं से कितना भयाक्रांत कर दिया है, इसकी कल्पना भी कम दुखद नहीं है। यह रोग चूँकि अभी भारतवर्ष में अधिक नहीं फैला, इसलिए उधर ध्यान कम जाता है, पर इस दृष्टि से पश्चिमी देशों का निरीक्षण करें तो यही कहना पड़ेगा—मनुष्य यातायात में इतनी शीघ्रता न कर पैदल चलने में ही राजी रहता तो कहीं अधिक नफे में रहता।

अमेरिका में रास्तों पर चलने वाले प्रतिवर्ष १०० में १७ व्यक्ति मोटर, ठेलों द्वारा कुचल दिये जाते हैं, इंग्लैण्ड में प्रतिवर्ष ४ प्रतिशत सड़कों पर चलने वाले लोग, घर के बजाय स्वर्ग पहुँचा दिये जाते हैं। इटली में कारों की संख्या कम है १०० में से ६ के पास ही कारें होती हैं तो भी यह कम कारें ही ५-६ प्रतिशत पथिकों को कुचल डालती हैं और जापान जिसका औसत इटली से भी

कम है। प्रतिवर्ष १००,००० यात्रियों में से ४०२ आदमियों को पीस डालता है। ये ऑकड़े कुछ समय पूर्व के हैं; वर्तमान समय में इसकी संख्या में और वृद्धि हो गई है। इन सभी ऑकड़ों को इकट्ठा करने पर पता चला कि संसार में आज यातायात दुर्घटनाओं से उतने लोग मरते हैं; जितने संक्रामक बीमारियों से भी नहीं मरते।

पैदल चलने में शरीर की नस-नस हिल अवश्य जाती है, पर उससे शरीर में कितनी शक्ति आती है, यह भी किसी से छिपा नहीं। एक मील चलने से शरीर को जो व्यायाम करना पड़ता है, उससे मनुष्य को १ दिन के लिए अतिरिक्त शक्ति मिलती है और आयु बढ़ जाती है। प्राचीनकाल में लोग लंबी-लंबी यात्राएँ बहुत थोड़े समय में किया करते थे, उनमें इतनी शक्ति और स्फूर्ति बनी रहती थी, जबकि आज मोटरों और कारों पर चलने वाले लोग आराम से यात्राएँ करने पर भी घर वापिस आने पर हारे, थके, टूटे और बीमार से लगने लगते हैं। प्राचीनकाल में तीर्थयात्राओं और परिक्रमाओं का विधान था, उसमें जहाँ शुद्ध और सुसंस्कृत वातावरण का लाभ लेने का भाव था, वहाँ हमेशा घरों में बैठे रहने के आलस्य को पैदल यात्राओं द्वारा भगाना भी उद्देश्य था। इन यात्राओं, परिक्रमाओं से लोग भरपूर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करते थे।

गोटर हों चाहें रेलें, उनका धुआँ और गैस यात्रियों के मस्तिष्क पर बुरा असर डालती हैं। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के डॉ० रौस० ए० मैकफारलैंड का कथन है कि मनुष्य को नियमित रूप से स्वस्थ और ताजा रहने के लिए ७८ से ५० फुट प्रति सैकंड की गति से चलती हुई १ घन मीटर ताजी हवा की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार वायु में नमी की ७५ प्रतिशत से कम मात्रा भी स्वास्थ्य और मस्तिष्क पर बुरा असर डालती है। इसके अतिरिक्त लोगों की सामूहिक अपान और मुँह से निकाली हुई दूषित वायु, मोनो-ऑक्साइड पैदा करती है, जिससे देखने में आराम से यात्रा

करने वाले यात्री की आँख, कान, मस्तिष्क और रक्त में विकार उत्पन्न होने लगते हैं। यह विकार जहाँ यात्रियों के लिए स्वास्थ्य-घातक होते हैं, वहीं झाइवरों के लिए ज्ञाननाशक। उनके मस्तिष्क के तंतु और मांसपेशियाँ नियंत्रण में रहना छोड़ देती हैं, दुर्घटनाएँ उसी का प्रतिफल होती हैं, आज सारा योरोप उसके सुनिश्चित दुष्परिणाम भुगत रहा है।

● इन दुर्घटनाओं के लिए जिम्मेदार कौन ?

यह कहना चाहिए कि आज योरोप में यात्रा करना उतना ही जोखिम भरा हो गया है जितना कि तूफानी समुद्र में टूटी हुई नाव लेकर चलना। स्वीडन में १ लाख वाहन प्रतिवर्ष ७६.१ आदमियों को रैंद डालते हैं, अमेरिका में अनेक सुरक्षा-साधनों के बावजूद ५२.६, न्यूजीलैंड में ५३.८ तो डेनमार्क के १ लाख रजिस्टर्ड वाहन १०१८ यात्रियों को मार डालते हैं। फ्रांस उससे भी आगे है, वह अपनी इतनी भोटरों, कारों और ठेलों द्वारा ११२.६ व्यक्तियों को पीस डालता है तो स्विट्जरलैंड और जर्मनी की गाड़ियाँ क्रमशः ७५३ और ७५६.८ व्यक्तियों को जिंदा चबा जाती हैं। यह अकाल मृत आत्माएँ, आकाश और वातावरण में हा-हाकार करती धूमती होंगी तो उससे मनुष्य जाति का सूक्ष्म अंतःकरण कितना अशांत होता होगा, उसकी कल्पना करना भी कठिन है।

सारा संसार घंटे भर की यात्रा की सीमा में आ जाए, उससे लाभ कुछ नहीं, हानियाँ अपार हैं। इसलिए यातायात के साधनों में वृद्धि द्वारा सारे संसार को एक बिंदु पर ला देने का तर्क कोरी मूर्खता है। जब यह साधन नहीं थे, इतिहास बताता है कि तब भी सारा संसार इतने ही समीप था। समीपता विचारों, सिद्धांतों और मानवीय आदर्शों की ही अच्छी हो सकती है, उसके दूसरे माध्यम हैं। गंदगी बढ़ाने वाले शरीरों की समीपता से जो विकार बढ़ने

चाहिए, आज संसार में वही बढ़ रहे हैं। अतएव इन साधनों के विकास के प्रयत्नों को अच्छा कदापि नहीं कहा जा सकता।

आज सब कुछ इससे उल्टा हो सकता है। योरोप में प्रतिवर्ष ५०००० व्यक्ति सड़क दुर्घटनाओं में मरते हैं और लगभग १ लाख दुर्घटनाओं के शिकार होकर जीवन भर के लिए अपाहिज हो जाते हैं, फिर भी प्रयत्न यह हो रहे हैं कि जहाँ अभी १०० व्यक्तियों पर ७५ मोटरों का औसत है, वहाँ जल्दी ही १०० व्यक्तियों पर ५० और ४५ का औसत हो जाये। यदि विकास की गति इसी तरह बढ़ती रही तो एक दिन वह भी आ सकता है, जब न तो पैदल चलने के लिए पगड़ियाँ रह जाएँगी और न ही पैदल यात्री। तब लोग अपने आप ही दुर्घटनाओं के शिकार होकर मर जाया करेंगे। आखिर यातायात के यह कृत्रिम साधन बढ़ेंगे तो दुर्घटनाएँ और मृत्यु दरें भी उसी अनुपात में बढ़ेंगी ही। तब साहित्य भी पैदल चलने के लाभों के स्थान पर यातायात की दुर्घटनाओं का ही लिखा जाया करेगा, जो इन पंक्तियों से भयंकर ही होगा। उस विभीषिका से बचाव अभी हो सकता है।

● भौतिक प्रगति आत्मिक अवनति

यह बात केवल यातायात तक ही सीमित नहीं। आज के नागरिक की दिनचर्या, रहन-सहन और आदतें देखकर, उसकी जो तस्वीर बनती है, वह यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि मनुष्य का जीवन भी एक यंत्र की तरह हो गया है। पाषाण, लौह और ताप्रयुगीन विभाजनों के साथ वर्तमान संदर्भों को देखा जाये तो इसे निश्चित ही यंत्र युग कहना पड़ेगा, क्योंकि मनुष्य का जीवन और यांत्रिक उपकरण परस्पर इतने घनिष्ठ हो गये हैं कि उन दोनों को एक-दूसरे से विलग कर पाना ही असंभव है। उस क्षण की स्थिति को कल्पनांकित ही नहीं किया जा सकता, जबकि मनुष्य का जीवन यंत्रों की सुविधा से एकदम रहित हो जाए। मिल कपड़े बनाते हैं,

कारखानों में खाद्य पदार्थ तैयार होते हैं, साबुन, तेल, ईंधन आदि सब किसी न किसी रूप में मशीनों से संबद्ध मिलेंगे। यहाँ तक कि जिस रोशनी का हम रात-दिन उपयोग करते हैं, वह भी रात-दिन मशीनों द्वारा ही पैदा होती है और हम तक पहुँचाई जाती है।

हम जिन परिस्थितियों, वातावरणों तथा वस्तुओं के संसर्ग में रहते हैं, उनका हम पर प्रभाव पड़ता है और हमारा उन पर। मनुष्य से समाज बनता है और समाज मनुष्य को बनाता है। मनुष्य अपने आस-पास के वातावरण से प्रभावित होता है और वातावरण मनुष्य से प्रभावित होता है। प्रभाव पड़ने या प्रभावित होने की यह प्रक्रिया दोनों ओर से होती है, एकांगी कभी नहीं। लेकिन यंत्रों के संबंध में कुछ और ही सचाई है। सिलाई की मशीन पाँव चलाने से चलती है और पाँव रोक देने पर बंद हो जाती है। बाद में वह कोई गति नहीं करती, परंतु दिन-रात सिलाई मशीन पर बैठने वालों के पाँव कभी-कभी अपने आप भी चलने लगते हैं। यह आदतन प्रभाव है।

आदतन प्रभाव की तरह ही मनुष्य भावनाओं से भी प्रभावित होता है और आजकल 'यांत्रिक-सम्भता' की समीक्षा करते समय इसी भावनात्मक प्रभाव की चर्चा की जाती है। हालांकि संसर्ग के अतिरिक्त इसके और भी कई कारण हैं। इसी तथ्य की ओर इशारा करते हुए प्रसिद्ध विचारक नीत्यो ने कहा था—“यंत्र जितनी तीव्रता से प्रगति कर रहा है, उसी अनुपात से मनुष्य की धर्म-संवेदना का छास हो रहा है। समस्त भौतिक सुविधाओं से संपन्न हो जाने पर भी मनुष्य इतना आत्म-विपन्न हो रहा है कि बीसवीं शती के अंत तक वह एकदम खोखला हो जायेगा और भयंकर रूप से दुःखी रहने लगेगा।”

इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए एक आधुनिक विचारक का कथन है कि—“आज के युग में जीने वाले व्यक्ति की स्थिति विचित्र कम और शोचनीय अधिक है। समस्त मानवीय संबंध अब केवल वित्तीय स्तर पर बनते हैं। अन्य सभी माध्यमों को

या तो नगण्य घोषित कर दिया गया है अथवा फिर यांत्रिकता से जकड़े हुए नये समाज में वे किसी अज्ञात प्रक्रिया द्वारा स्वतः दूबते जाते हैं।" चूँकि मनुष्य समाज का एक अंग है और इस नाते उसे दूसरे अन्य अंगों के संपर्क में आना पड़ता है। मानवता का तकाजा तो यह है कि हम अपने पड़ौसियों के दुःख-सुख में काम आएँ, उनकी खैर-खबर रखें और कुशलक्षेम से अवगत रहने के साथ-साथ समय-समय पर काम भी आएँ; परंतु पड़ौसियों के प्रति यह आत्मीयता का भाव धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। महानगरों की स्थिति तो यह है कि वहाँ रहने वाला एक व्यक्ति अपने पड़ौसी के दुःख-दर्द में साथ देने के स्थान पर उसे जानता तक भी नहीं। शहरों और कस्बों के नागरिकों को भी अपनी समस्याओं से कम ही फुरस्त मिल पाती है और इस फुरस्त को पड़ौसियों से मेल-जोल बनाने के स्थान पर सिनेमा देखने या सैर करने में गुजारना अधिक अच्छा समझते हैं।

पड़ौसियों से कटे रहने तक की ही बात सीमित रहती तो इतनी शोचनीय स्थिति नहीं आती। आश्चर्य तो तब होता है, जब लोगों को अपने रिश्तेदारों और संबंधियों से संपर्क रखने का भी समय नहीं मिलता। यही नहीं, आदमी अपनी बीमार पत्नी के पास बैठने की अपेक्षा दिन भर की थकान उतारने के लिए रेडियो सुनना और घूमने निकल जाना अधिक अच्छा समझता है। कई अभिभावक ऐसे हैं, जो अपने बच्चों की पढ़ाई में क्या स्थिति है—इससे अनभिज्ञ रहते हैं। कई लोग ऐसे हैं जिन्हें अपने शहर में रहने वाले मित्रों और संबंधियों के घर न गये महीनों बीत चुके हैं। अर्थात् मनुष्य समाज में रहता तो है अवश्य, पर समाज के प्रति उसके क्या उत्तरदायित्व हैं या तो वह अनभिज्ञ है अथवा जान-बूझकर उनकी उपेक्षा करता है।

इतना एकाकीपन होने के बावजूद भी मनुष्य आर्थिक दृष्टि से किसी से संपर्क सूत्र कायम रखने में चूकना नहीं चाहता। कारण

कि यंत्रों की बाढ़ ने मनुष्यों का श्रम हल्का किया है और उसकी सुविधाएँ बढ़ाई हैं। इसलिए उपभोग सामग्रियों से बाजार भरे हैं। जो समर्थ हैं, वे उन्हें खरीद सकते हैं तथा उनका उपभोग कर सकते हैं। इस कारण असमर्थ और विपन्न व्यक्तियों का ध्यान भी उस ओर आकृष्ट होता है तथा वे भी उनका वैसा ही उपभोग करने के लिए ललक उठते हैं। बेशक उन्हें खरीदने के लिए अतिरिक्त आर्थिक साधन चाहिए। इस समर्थता और असमर्थता ने संपन्नता को ही प्रतिष्ठा का बिंदु बना दिया है। जिसे हर कोई बीधना चाहता है और उसे बीधने में इस कदर लवलीन है कि उसे अपने आस-पास की चीजें भी नहीं दिखाई देतीं।

यांत्रिक संसर्ग का जहाँ तक प्रश्न है, मशीनी वातावरण में रहने का अपना एक अलग प्रभाव है लेकिन उससे भी अधिक बुरी तरह प्रभावित और आत्म-विपन्न कर देने वाली स्थिति, बदलते दृष्टिकोण से उत्पन्न हुई है—जिसने वित्तीय दशा को ही सर्व प्रधान बना दिया और उसे पूरा करने के लिए मनुष्य इतना मदमत्त होकर दौड़ने लगा कि एकाकीपन, संत्रास, आत्म-विपन्नता, स्वकेंद्रित मनोवृत्तियाँ, कुंठाएँ और विक्षेप उसे चारों ओर से छेदने लगे हैं। मशीनों के संसर्ग का एक व्यवस्थित कार्यक्रम है, जो सुखी जीवन की एक निश्चित गारंटी है; परंतु उसके बावजूद अन्य कारण जो यांत्रिक सम्भता को दोषों से विषाक्त करते हैं, मनुष्य को तनावग्रस्त तथा असुरक्षित बनाते हैं।

अब से २५-५० साल पहले युवकों के सामने जीवन में प्रवेश करने का यह एक रेडीमेड तरीका था कि पढ़ना-लिखना और डिग्री प्राप्त करना तथा उसके बाद नौकरी से लग जाना या शिक्षा प्राप्त करना। नौकरी-धंधे से लगने और परिवार बस जाने के बाद भी युवक को परिवार का आर्थिक संरक्षण भिलता रहता था। इसका एक कारण तो यह था कि उस समय संयुक्त परिवार प्रथा थी, जिसमें सभी सदस्यों के हित परस्पर जुड़े हुए थे तथा प्रत्येक

एक-दूसरे के प्रति अपने दायित्वों का अनुभव करते थे, लेकिन आज संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं और एकाकी परिवार अधूरी-अधकचरी स्थिति में जीते हुए अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने की आशा बाँधे रहते हैं। अपने माता-पिता और सहोदर भाई-बहिनों से सिकुड़कर मानवी गतिविधियों का केंद्र पत्ती, बच्चे और स्वयं तक ही सीमित हो गया है। जो संयुक्त परिवार किसी प्रकार टूटने से बचे हुए हैं, जिनके सदस्य एक-दूसरे के प्रति अपने कुछ दायित्व अनुभव करते हैं और उन्हें पूरा करने के लिए सजग रहते हैं, वे भी नौकरी और रोजगार करने के लिए बिखरे पड़े हैं। कहने का अर्थ यह है कि आर्थिक स्थिति मजबूत करने और सुदृढ़ बनाने के चक्कर में हम और अधिक दीन-हीन व एकाकी बनते जा रहे हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जो लोग अपने माता-पिता और सहोदर भाई-बहिनों के लिए ही कुछ करना व्यर्थ समझते हों, वे पड़ौसियों और मित्रों के लिए कुछ करने की क्या सोचेंगे ?

अकेलेपन का यह मानसिक प्रभाव नगरीय लोगों में अधिकांशतः है। इसकी तुलना सौ वर्ष पुराने समाज से करते हुए लिखा गया है कि ‘उन्नीसवीं सदी का मनुष्य अपनी आत्म-संपन्नता के बल पर ही अनेक दुःख झेलकर भी मानवीयता से भ्रष्ट नहीं हो पाता था और उसकी इस आत्म-संपन्नता के पीछे संस्कारों का बहुत बड़ा हाथ था। जबकि बीसवीं सदी का मनुष्य इतना बहिर्विष्ट हो गया है कि सामान्यतया स्वयं को नगण्य व एकाकी मानता हुआ किसी भी क्षण अपने आपको दूसरों के हाथों में छोड़ देने के लिए विवश हो जाता है या मजबूरन् अपने को तैयार करता है।’

यांत्रिक सभ्यता में मनुष्य की दृष्टि का केंद्र बिंदु बदला है और उसने मानवीयता के स्थान पर आर्थिकता को व्यक्ति की प्रत्यभिज्ञा माना है। वहीं उसका अपना जीवन भी एकरस और उसके कारण विद्रोही बना है। हाल ही में पिछले वर्षों ब्राक्स में एक

अद्भुत घटना घटी। एक बस ड्राइवर अपनी बस समेत अनायास लापता हो गया। तीन-चार दिन बाद वह बस समेत फ्लोरिडा में पकड़ा गया। इस बीच अखबारों में वह बड़ी चर्चा का विषय बन गया। बस कंपनी के मालिकों ने जब उससे भागने का कारण पूछा तो उसने बताया कि पिछले सात वर्षों से वह एक ही रुट पर बस चलाते-चलाते और उन्हीं स्थानों पर बार-बार बस रोकते-रोकते बुरी तरह बोर हो गया है। परिवर्तन के लिए ही उसे फ्लोरिडा आने का निर्णय लेना पड़ा।

जैसा कि कहा जा चुका है कि मनुष्य के पास पहले की अपेक्षा आज अधिक सुनिश्चित और व्यवस्थित कार्यक्रम है; परंतु उसकी ऊबाऊ एकरसता ने मनुष्य की चेतना को एकरस बना दिया है और वह इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए एकदम से तैयार नहीं है। इस ऊबाऊ एकरसता के कारण वह बोरियत अनुभव करता है और उसे तोड़ देने के लिए स्वच्छंदता, उन्मुक्तता और हिष्पीवाद की अनेकानेक भ्रांत धाराओं में बह निकलना चाहता है। यंत्र जिस प्रकार एक ही गति और लय में चलता है, उसी प्रकार मनुष्य भी एक ही स्थिति को बार-बार भोगने के लिए अपने आपको विवश अनुभव करता है। कहने का अर्थ यह है कि वह अपने आपको कोल्हू के बैल वाली स्थिति में पाता है, जिसे उसकी प्रवाहमान-गतिशील चेतना किसी भी दशा में भोगने को तैयार नहीं है। एक अर्थशास्त्री के शब्दों में मनुष्य की चेतना द्वासमान उपयोगिता की भाँति संवेदना शून्य बनती जा रही है। वह व्यक्ति को इस सीमा तक जड़ीभूत किये दे रही है कि वह उकता कर अपने आपको ऐश्वर्य से बचाने के लिए छटपटा रही है।

● हम कितने घाटे में हैं—अनुमान तो करें

प्रोफेसर हावेड डिंगले जो लंदन विश्वविद्यालय के एक प्रख्यात खगोल पिंडों के भौतिकीय एवं रासायनिक विज्ञान के ज्ञाता

(एस्ट्रोफिजिस्ट) तथा दर्शन शास्त्र, विज्ञान एवं इतिहास के भी ज्ञाता थे—उनका कथन है कि जब हम उस विज्ञान की प्रकृति के बारे में विचारें, जो आजकल प्रचलित है एवं जिसका उपयोग आजकल हो रहा है, तो हम ऐसी परिस्थितियाँ पाएँगे, जिनसे भगवान् के दूत भी रोने लगें। यह ऐसा युग नहीं कि औँख मीच कर विज्ञान की शक्ति को महत्व दिया जाये। यदि विज्ञान की सत्यता का ही ध्यान दिया जाये और आध्यात्मिक सत्यों को पूर्ण-रूपेण भुला दिया जाये तो उसके वही परिणाम हो सकते हैं, जो आज अमेरिका, इंग्लैण्ड में दिखाई दे रहे हैं, जो सुखद नहीं हैं।

अमेरिका का आकाश कभी अवकाश नहीं पाता। वहाँ हर क्षण कम से कम एक हजार जहाज आकाश में केवल पहरेदारी के लिए गड़गड़ते घूमा करते हैं। पहरेदारी की चिंता भयग्रस्तों को होती है। अमेरिका जैसा भयभीत कोई दूसरा देश नहीं है, यह विज्ञान की देन है।

हवाई जहाजों के अतिरिक्त वहाँ हजारों कारखाने, मोटरें, मशीनें चौबीस घंटे चलते रहते हैं, उससे वातावरण में गंदी गैसें छाई रहती हैं, शोर इतना होता है कि जितना एक शहर में होता है, यदि उसे विद्युत् शक्ति में बदल दिया जाये तो सारे शहर के उपभोग की आवश्यकता को पूरा करके भी बहुत-सी विद्युत् शेष बच जायेगी।

गंदी गैसों के कारण वहाँ नई-नई तरह की बीमारियाँ फैलती जा रही हैं, कुछ बीमारियाँ ऐसी हैं, जो केवल अमेरिका में ही पाई जाती हैं, उनके उपचार के लिए उसे निरंतर नई-नई औषधियों की खोज में लगे रहना पड़ता है। तीन चौथाई विज्ञान वहाँ एक चौथाई विज्ञान के दुष्परिणामों की रोकथाम भर के लिए है, विज्ञान जितना बढ़ता है, वहाँ की समस्याएँ उतनी ही जटिल होती जा रही हैं। वहाँ के मूर्धन्य मनीषी आइंस्टीन तक को इसीलिये कहना पड़ता था कि

‘विज्ञान की प्रगति के साथ धर्म की प्रगति न हुई तो संसार अपनी इस भूल के भयंकर दुष्परिणाम आप ही भुगतेगा।’

चौबीस घंटे शोर के कारण अमेरिका में ७० प्रतिशत लोगों के मस्तिष्क विकार ग्रस्त हैं। आत्महत्याएँ और हत्याएँ सबसे अधिक अमेरिका में होती हैं, ७० प्रतिशत अमेरिकन को नींद की गोलियाँ लेकर सोना पड़ता है, क्योंकि उनके मस्तिष्क इतने अशांत हैं कि उन्हें स्वाभाविक नींद लेना भी कठिन होता है। दांपत्य-जीवन जितना अमेरिका और इंग्लैण्ड में कलेशपूर्ण है, उतना संसार के किसी भी भाग में नहीं। अमेरिका में एक कहावत प्रचलित है, रात को विवाह, प्रातः संबंध-विच्छेद (नाइट मैरिजे भार्निंग डाइवोर्स)। यह घटनाएँ बताती हैं कि विज्ञान और यंत्रीकरण की प्रगति वाले इन देशों का आंतरिक जीवन कितना खोखला, कष्टपूर्ण और दिग्ग्रांत है।

यह स्थिति ऐश्वर्य संपन्न लोगों के लिए ही नहीं है। उन लोगों के लिए भी उसी प्रकार विकराल है, जिनकी दौड़, ऐश्वर्य का लक्ष्य सामने रखकर चल रही है। ऐश्वर्यशाली अपने ऐश्वर्य में आत्मा को खोया अनुभव करते हैं तो ऐश्वर्य-अभिलाषी अपनी आकंक्षा की अग्नि में आत्मा को दग्ध पा रहे हैं।

इन सब बातों का यह अर्थ नहीं है कि यंत्र सम्यता को छोड़कर समाज पीछे चला जाए, क्योंकि यह एक और बड़ी गलती होगी। हमें यह सोचना चाहिए कि हम मूल्यों को सुरक्षित रखते हैं, यंत्रों द्वारा श्रम की थकान को कम करें। इसके लिए बदलती आज की मान्यताओं पर तीक्ष्ण दृष्टि रखने की आवश्यकता है।



साँस मत लो, इस हवा में जहर है



वाशिंगटन के बाजारों में “गैस मास्क” पहने हुए नवयुवकों का एक जुलूस निकला। प्रदर्शनकारियों के हाथ में तख्तियाँ थीं—“साँस मत लो, इस हवा में जहर है।”

डिब्राइट नदी पर स्थित एक इस्पात मिल के दरवाजे पर वहाँ की स्त्रियों ने धरना दिया। यह स्त्रियाँ गले में तख्तियाँ बाँधे बैठी थीं, “हमारे सुंदर परिवार को जहर पिलाकर मत मारो।”

कनेक्टिकट के कालेज में छात्रों ने एक जुलूस निकाला, उसमें एक गाड़ी पर पेट्रोल इंजन रखा हुआ था, उस पर बड़े-बड़े पोस्टर लगे थे—“हवा को जहरीली बनाकर अगणितों को मौत की आग में धकेलने वाला शैतान यही है।” इंजन को भारी भीड़ के सामने गड़ढ़ा खोदकर दफनाया गया, उसकी कब्ज़ा बनाई गई और उस पर लिखा गया—“शैतान का संतरी।”

लॉस एंजिल्स के क्रीड़ागांन के समीप बहुत बड़े-बड़े सूचना पटल पर चेतावनी दी गई—“झू नॉट ब्रीद टू डीप” अर्थात् यहाँ गहरी साँस मत लीजिये।

इस तरह की चेतावनियाँ, सावधानी-संकेत, जुलूस व व्यवस्थाएँ किसी सनक का परिणाम नहीं, अपितु आज अत्यंत बुद्धिमान् माने जाने वाले मनुष्य के लिए एक गंभीर चुनौती है कि वह अपने द्वारा उत्पन्न किए गए पर्यावरण प्रदूषण को सुलझाये, अन्यथा अपने ही चिराग से निकला जिन्हे—अपनी ही मानवीय संस्कृति को निगल जाने को तैयार है। भारतीय संस्कृति में वायु, जल और अन्न को धरती के तीन रत्न कहा गया है। आज यह सभी कारखानों के धुएँ, चिमनियों के द्वारा उगले जा रहे कॉर्बन, भट्टियों की धधक और दूसरे दूषित पदार्थों के कारण इस हद तक विषाक्त हो चले हैं कि विचारशील लोगों का चिंतित होना

स्वाभाविक है। वस्तुतः परिस्थितियाँ इन प्रदर्शनों से लाख गुना अधिक गंभीर हैं। इस स्थिति की ओर हर व्यक्ति का ध्यान जाना आवश्यक नहीं बल्कि अनिवार्य है।

पर्यावरण-प्रदूषण के परिणाम क्या होते हैं ? १९५२ में पूरे लंदन में चार दिन तक धुएँ की धुंध छायी रही। इससे प्रायः ४ हजार व्यक्तियों का प्राणांत हो गया। १९४५ में अमरीका के डनोरा शहर में इसी तरह की धुएँ की धुंध (स्प्रॉक) छायी रही, सैकड़ों लोग श्वसनतंत्र के दोषों से ग्रस्त हो गये। दोनों जगह कारण एक ही था—कोयले के उपयोग से, कारखानों से, निकली सल्फर-डाइऑक्साइड गैस।

जापान की राजधानी टोकियो में पुलिस को हर आधे घंटे बाद ऑक्सीजन-टैंकों से ऑक्सीजन का सेवन करना पड़ता है, क्योंकि मोटरों के धूम-धमाके से कार्बन-मोनो-ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है।

जापान की राजधानी टोकियो में सड़कों पर चलने वाले वाहनों की संख्या कभी-कभी बढ़ जाती है तो वहाँ धुआँ इतनी बुरी तरह से छा जाता है कि सरकारी तौर पर उसकी घोषणा करनी पड़ती है। सरकारी कर्मचारियों को उसकी धुटन से बचने के लिए गैस मास्क (एक प्रकार का यंत्र जो हवा का दूषण छानकर शुद्ध हवा को श्वास नली में जाने देता है) पहनना पड़ता है। १९६६ में टोकियो में ६५ बार इस तरह की चेतावनी दी गई। ट्रैफिक पुलिस को आधे-आधे घंटे बाद अपनी झूटी छोड़कर, चौराहों की बगल में बनी ऑक्सीजन टंकियों में जाकर ऑक्सीजन लेनी पड़ती थी। कई बार ऐसा हुआ, जब सिपाहियों ने भूल की; वे ऑक्सीजन लेने नहीं गये तो कई-कई सिपाही एक साथ मृत्युचित हो-होकर गिरे।

जापान में सौ व्यक्तियों के पीछे कई व्यक्ति अनिवार्य रूप से ब्रॉकाइटिस (श्वास नली में सूजन की बीमारी) के रोगी हैं, इसका कारण और कुछ नहीं यह धुआँ ही है, जिसे कल-कारखाने व

यातायात वाहन उगलते रहते हैं। अमेरिकन सैनिकों में इन दिनों एक नया रोग चमक रहा है, जिसका नाम “तोक्यो योकोहामा डिसीज़” रखा गया है, उसका कारण भी डॉक्टर वायु की इस गंदगी को ही बताते हैं। इस बीमारी में साँस लेने में घुटन, खाँसी और अपच आदि लक्षण होते हैं।

अमेरिका के ब्राजील राज्य में साओपालो और रायोडिजेनेरो दो पड़ोसी नगर हैं। १९७४ के आस-पास साओपालो की जितनी जनसंख्या थी, अब आबादी उससे कई गुनी अधिक हो गई है। जनसंख्या वृद्धि के समांतर ही वहाँ कल-कारखाने और फैक्टरियाँ भी बढ़ी हैं। अनुमान है कि उक्त अवधि में साओपालो में पाँच हजार नये कल-कारखाने स्थापित हुए, इसके विपरीत रायोडिजेनेरो की नगर कारपोरेशन ने सन् १९७३ में दी गई पत्रिकाओं की “आर्गेनिक डस्ट” की चेतावनी (इस चेतावनी में पहले ही यह कहा गया था कि यदि कल-कारखाने बढ़े तो उनका धुआँ मनुष्य जाति के लिए भयंकर खतरा बन जायेगा) को ध्यान में रखकर औद्योगिक प्रगति को बढ़ने नहीं दिया। अब स्थिति यह है कि साओपालो के आकाश में प्रतिदिन दस टन हाइड्रोक्लोरिक एसिड और लगभग एक हजार टन सल्फ्यूरिक एन हाइड्राइड वायु में धुल रहा है और उससे नगर में ब्रांकियल (श्वास नली संबंधी बीमारी) से मरने वालों की संख्या भी दुगनी हो गई है। प्रातःकाल लोग घरों से खाँसते हुए निकलते हैं। इस स्थिति की भयंकरता अनुभूति करने वाले मेड्रिड के लोग कहते हैं—“हम प्रातःकाल की साँस के साथ उतना दूषित तत्त्व पी लेते हैं, जितने से कोई एक डीजल इंजन दिन भर सुविधापूर्वक चलाया जा सकता है। एक ओर साओपालो धुएँ में घुट रहा है, दूसरी ओर रायोडिजेनेरो के लोग अभी भी इस दुर्दशा से बचे हुए हैं।

पेनसिलवानिया (अमेरिका) में मोनोनग सेला नामक नदी के किनारे डोनोरा एक छोटी-सी औद्योगिक बस्ती है, यहाँ

कल-कारखाने बहुत हैं। यों यहाँ इन फैक्टरियों का धुआँ आमतौर से छाया रहता है और उसे सहन करने में लोग अभ्यस्त भी हो गये हैं, पर २८ अक्टूबर, १९७१ को तो वहाँ स्थिति ही विचित्र हो गई। धुएँ और धूलि भरी धुंध ऐसी छाई कि चार दिन तक बरसती घटाओं जैसी अँधियारी छाई रही। किसी ने यह जाना ही नहीं कि दिन निकल आया। दिन में भी रात लगती रही, कालोंच इतनी बरसी कि सड़कों पर उसकी परतें जम गईं और निकलने वालों के पैर उस पर स्पष्ट रूप से छपने-उमरने लगे। हवा में गंधक मिली हुई तेज गंध सूँधी जा सकती थी। सड़क पर कारें चलना बंद हो गयी। बीमारों से अस्पताल खचाखच भरे थे। डॉक्टर अपनी जान बचाने के लिए कहीं दूर चले जाने के लिए पलायन करने लगे।

गले की खराबी, सिर में चक्कर, उल्टी, आँखों की सूजन आदि रोगों से उस ७८ हजार आबादी की छोटी-सी बस्ती में ६ हजार लोग बीमार पड़े। इसमें से कितनों को ही मौत के मुँह में जाना पड़ा।

ऐसी ही एक घटना घटी मेकिस्को के रोजारिका क्षेत्र में। बस्ती तो सिर्फ ७५ हजार की थी, पर वहाँ हाइड्रोजन सल्फाइड तथा दूसरी तरह के कारखाने बहुत हैं। एक दिन किसी गलती से कारखाने की गैस बंधन तुड़ाकर एक घंटे के लिए खुले आकाश में भ्रमण करने के लिए निकल पड़ी। इतनी-सी देर में उसने सारे नगर को हिला दिया। ३२० तो अस्पताल में भरती हुए, जिनमें से कितने ही तो घर नहीं लौटे, उन्हें वहीं प्राण गँवाने पड़े। अभी कुछ वर्षों पूर्व भोपाल की गैस त्रासदी हुई, जिसमें करीब तीन हजार लोग तुरंत काल-क्वलित हुए तथा कई हजार रोगग्रस्त होकर अपनी क्षमताएँ गवाँ बैठे। सोवियत रूस में चेरनोबिल की घटना भी इसी तरह की त्रासदी थी।

ऐसी ही विपत्ति एक बार लंदन में आई। दिसंबर का महीना था। यकायक काले धुएँ के बादल आसमान में घिर आये। उनकी

सघनता इतनी अधिक हो गई कि दस फुट से आगे कुछ भी दीख नहीं पड़ता था। आसमान में वायुयानों का उड़ना और जमीन पर मोटरों का चलना असंभव हो गया। सूरज आसमान में एक धूँधली बत्ती की तरह लटकता भर दीखता था, रोशनी उसमें से निकल ही नहीं रही थी। हवा में सल्फर डाइ-ऑक्साइड जैसी अनेकों विषाक्त वस्तुएँ घुली थीं। सॉस लेना कठिन हो रहा था। इससे कितने बीमार पड़े यह गिनना तो कठिन है, पर मौत का लेखा-जोखा यह है कि उन्हीं ४-५ दिनों में ४ हजार तुरंत मर गये और बीमारों में से ८ हजार कुछ ही दिन में चल बसे।

सन् १९५६ में ऐसा ही एक और वायु प्रदूषण लंदन पर बरसा था, जिसमें एक हजार व्यक्ति मरे थे। इसके कुछ दिन पहले ऐसा ही एक और झोंका चार सौ की जान ले चुका था। न्यूयार्क में सन् १९६३ में दो सौ इसी कुचक्र में फँसकर मरे थे। सन् १९६६ में १६८ लोग मरे। वायु में बढ़ी हुई धूँध तथा विषाक्तता को देखकर स्वास्थ्य अधिकारियों ने लोगों को घरों में बंद रहने की ही सलाह दी। सड़कों पर तो इतनी कालोंच बरस रही थी कि उसका साँस के साथ भीतर जाना खतरे से खाली नहीं था। लोग सब काम छोड़कर यह विपत्ति टलने तक घरों में ही बंद बैठे रहे।

तत्काल धुआँ उगलने वाली कारखानों की भट्टियाँ बंद की गई, मोटरें चलना रोका गया, घरों में चूल्हे जलाने पर पाबंदी लगी। अच्छा हुआ मौसम सुधर गया अन्यथा स्थिति को देखते हुए ४० हजार लोगों को इस विपत्ति के चपेट में आने का अनुमान लगा लिया गया था।

बेलजियम की म्यूजा धाटी में लोहे के कल-कारखाने अधिक हैं। उस क्षेत्र में विशेष रूप से और अन्य क्षेत्रों में सामान्य रूप से धुएँ से भरा हुआ कुहासा छाया, धूँध और घनी होती गई। तीन दिन तक यही स्थिति रही। लोगों के दम फूलने लगे, खाँसी हुई, दमा जैसी बीमारी उमड़ी, अनेकों लोग बीमार पड़े। अस्पताल भर गये,

डॉक्टरों के यहाँ भीड़ लग गई और देखते-देखते उसी घुटन में ६३ व्यक्तियों को प्राणों से हाथ धोना पड़ा। मृतकों में बूढ़ों और बच्चों की संख्या अधिक थी।

कारखानों और दूसरी भट्टियों का धुआँ प्रारंभ में निकलकर आकाश में छाने लगता है। अवसर पाते ही वह धरती की ओर झुक जाता है और 'थर्मल इन्वर्शन' (ताप व्युत्क्रमण) का अवसर पाते ही धुंध के रूप में बरसने लगता है। जब तक वायु गर्मी से प्रभावित रहती है तब तक धुएँ-धुंध के कारण हवा के साथ ऊपर उड़ते रहते हैं, पर जब शीतलता के कारण वायु नम होती है, धूलि का उठाव रुक जाता है और वह वायु प्रदूषण नीचे की ओर ही गिरने लगता है। हवा का बहाव बंद हो जाने पर तो यह विपत्ति और भी बढ़ जाती है।

अमेरिका के कैलीफोर्निया राज्य में एक ऐसा भी स्थान है जो समुद्र तल से २८० फुट नीचा है। यह स्थान एक ओर तो अत्यंत गर्म और बालू से भरा है, दूसरी ओर समुद्र तल से इतना नीचा होने के कारण इस क्षेत्र का सारा धुआँ वर्ष भर छाया रहता है।

धुएँ में कार्बन डाई-ऑक्साइड जैसी गैसें होती हैं। हाइड्रोजन सबसे हल्की गैस है, इसलिये वह वायुमंडल की सबसे ऊपरी सतह पर आच्छादित रहती है, उसी प्रकार कार्बन डाई-ऑक्साइड भारी होने के कारण सबसे निचला स्थान ढूँढ़ती है। यह स्थान संसार भर में सबसे नीचा होने के कारण यहाँ से कार्बन डाई-ऑक्साइड कभी कम नहीं होता। शीत ऋतु का-सा कोहरा वर्ष भर भरा रहता है। कोई भी पक्षी, कोई भी मनुष्य वाहन या जीव-जंतु वहाँ जाकर आज तक वापिस नहीं लौटा। उसकी विषेली धुंध में लोग घुट-घुट कर, तड़प-तड़प कर मर जाते हैं। यह घाटी करोड़ों मन हड्डियों और नर-कंकालों से पटी हुई है, इसलिये इसे "मृत्यु घाटी" कहते हैं। यहाँ जाकर आज तक कोई सही सलामत नहीं लौटा।

समुद्र तल से इतना निचला होने के कारण यहाँ कार्बन डाई-ऑक्साइड जमा है धुआँ इसका अर्थ यह नहीं कि यह विषेली गैस केवल वही है। आजकल धरती में धुआँ इतना अधिक बढ़ रहा है कि उसके विषेले प्रभाव से हिमालय जैसे कुछ ही ऊँचे स्थान बच रहे होंगे, शेष संसार में तो यह धुआँ 'मौत-घाटी' की तरह ही बढ़ता जा रहा है। उसके कारण हजारों तरह की बीमारियाँ, मानसिक रोग और मृत्यु दरें बढ़ती जा रही हैं। विश्व की आबादी ६ अरब हो जाने की तो चिंता हुई। उसके लिए तो दुनिया भर के देश अपने यहाँ पृथक् परिवार-नियोजन मंत्रालय खोलकर इस समस्या के समाधान में रत हैं, जबकि उससे भी भयंकर है धुएँ की यह समस्या—उस पर आज किसी का भी ध्यान नहीं जा रहा।

जेट विमानों से जो धुआँ निकलता है, उसमें ईंधन (फ्लूल) के रूप में पेट्रोल जलता है और कार्बन मोनो ऑक्साइड तथा कार्बन डाई-ऑक्साइड बनाता है। इसमें कार्बन मोनो ऑक्साइड तो एक प्रकार का विष ही है, जबकि कार्बन डाई-ऑक्साइड भी कम विषेली नहीं होती। यह जेट तो धुआँ छोड़ने वाले यंत्रों का एक छोटा घटक मात्र है। अपने आप चलने वाले ऑटोमोबाइल्स, मोटरें, कारें, साइकिलें, डीजल इंजन, पंप, रेलवे इंजन, फैकिट्रियों की चिमनियाँ सब की सब कार्बन डाई-ऑक्साइड निकालती हैं। कार्बन डाई-ऑक्साइड भारी गैस है, हाइड्रोजन का परमाणु भार एक है तो उसका ४४, उसे पौधे ही पचा सकते हैं, मनुष्य तो उससे मरता ही है। अब जो स्थिति उत्पन्न हो रही है, उससे सब ओर आज नहीं तो कल वही मृत्युघाटी के लक्षण उत्पन्न होने वाले हैं।

सन् १९६३ की उस घटना को न्यूयार्क निवासी भूले नहीं हैं, जिससे वायु के दबाव से विषाक्त धुंध छाई रही और ४०० व्यक्तियों का देखते-देखते दम घुट गया। सन् १९६२ के दिसंबर में लंदन में इसी धुंध ने कहर ढाया और महामारी की तरह अनेकों को रुग्ण बनाया था, अनेकों को मौत की गोद में सुलाया था।

● रोम जल रहा है, लोग सो रहे हैं

इतने पर भी मानवीय बुद्धि पीछे लौटने को तैयार होती दिखाई नहीं देती। विकास के नाम पर विनाश के साधन बढ़ते ही जा रहे हैं।

आज अमेरिका के वायु मंडल में प्रतिदिन हाइड्रो कार्बन नाइट्रोजन, कार्बन मोनो ऑक्साइड, सल्फर डाई-ऑक्साइड सीसे के कण आदि विषेश तत्त्वों की २०,००,००,००० टन मात्रा भर जाती है। कई बार तापमान गिर जाने से मौसम में ठंडक आ जाती है, जिससे यह धुआँ ऊपर नहीं उठ पाता, ऐसी स्थिति में सघन बस्तियों वाले लोग, जहाँ पेड़-पौधों का अभाव होता है, ऐसे घुटने लगते हैं जैसे किसी को कमरे में बंद करके, भीतर धुआँ सुलगा दिया गया हो। यह धुंध इतना ही नहीं करती, उसमें रासायनिक प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं। इसके फलस्वरूप, नाइट्रोजन डाई-ऑक्साइड, ओजोन और फास्फीन आदि विषेश गैसें पैदा हो जाती हैं। उससे फेफड़ों के रोग आँखों की बीमारियाँ और खाँसी गले के रोग असाधारण रूप से बढ़ते हैं। अमेरिका में इन बीमारियों से हवा के प्रदूषण का ६० प्रतिशत हिस्सा मोटरों का और ३० प्रतिशत उद्योगों का है। अंतरिक्ष यात्रियों ने पृथ्वी से ७० मील ऊपर जाकर, घरती को देखा तो लोस एंजिल्स सरीखे औद्योगिक नगर गंदी धुंध से बेतरह ढके दिखाई पड़े।

इस दृष्टि से ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, बेलजियम, जहाँ औद्योगिकरण देर से चल रहा है, स्थिति बहुत ही बुरी है। जर्मनी में सल्फर डाई-ऑक्साइड गैस की मात्रा बढ़ जाने से १,३०,००० एकड़ वन-संपदा नष्ट हो रही है और उससे २१,००,००,००० ड्यूसमार्क वार्षिक की क्षति हो रही है। स्विट्जरलैंड में इन दिनों कपड़ा भिलों की संख्या चौगुनी हो गई है, फलस्वरूप स्विस झीलों की स्थिति भयावह बन गई। इन कुछ वर्षों में उनमें फास्फेट १० गुना और प्लंबस ३० गुना बढ़ गया है।

जर्मनी के फेडरल रिपब्लिक में हिसाब लगाया गया है कि उस देश के उद्योग हर साल २ करोड़ टन विषाक्त द्रव्य हवा में उड़ाते हैं। इनमें कोयले की गैस, तेल की गैस तथा जमीन खोदकर इन पदार्थों को निकालते समय उड़ने वाली गैसें मुख्य हैं। कार्बन मोनो ऑक्साइड २० लाख टन, सल्फ्युरिक ऑक्साइड २५ लाख टन, नाइट्रस ऑक्साइड ३० लाख टन और हाइड्रो कार्बन की २५ लाख टन मात्रा धूलि बनकर आसमान में उड़ती है और उसकी प्रतिक्रिया प्राणियों के लिए विघातक होती है।

भारत की केंद्रीय सार्वजनिक स्वास्थ्य इंजीनियरिंग अनुसंधान संस्था के पूर्व निर्देशक प्रो० एस० जे० आरसी वीना के अनुसार भारत में पश्चिमी देशों की तुलना में मोटरों की संख्या तो कम है, पर धुएँ की मात्रा लगभग एक समान है। कलकत्ता के सर्वेक्षण से पता चला कि यहाँ के वायु मंडल में कार्बन मोनो ऑक्साइड गैस की मात्रा ३५ प्रतिशत है, जबकि न्यूयार्क में २७ प्रतिशत है। इसका कारण पुरानी और भौंड़ी बनावट की मोटरों द्वारा अधिक धुआँ फेंकना है। कारखाने की चिमनियाँ भी घटिया कोयला जलाती हैं और सफाई के संयंत्र न लगाकर वायु विषाक्तता के अनुपात में और भी अधिक वृद्धि करती हैं।

“ड्राइव मैगजीन” के फरवरी ६७ अंक में दिये ऑकड़ों के अनुसार एक कार सात साल में इतना धुआँ उगल डालती है कि उसके कार्बन डाई-ऑक्साइड से ईसाइयों के प्रसिद्ध गिरजाघर सेंटपाल का गुंबद दो बार, मोनोऑक्साइड से तीन कमरों वाले बैंगले को नौ बार, नाइट्रोजन से एक डबल डैकर बस दो बार भरी जा सकती है। सात वर्ष तक इन तत्त्वों को छानकर यदि उनका शीशा (लेड) एकत्रित (एक्स्ट्रेक्ट) कर लिया जाए, तो वह एक गोताखोर के सीने को ढकने के लिए पर्याप्त होगा।

यह नाप-तौल तो एक कार से उत्पन्न विषवर्द्धक धुएँ की है, जबकि अकेले इंग्लैंड में डेढ़ करोड़ मोटर गाड़ियाँ हैं। अब तक

इनकी संख्या साढ़े चार करोड़ से अधिक हो जाने का अनुमान है। अमेरिका के पास कारों की संख्या इंग्लैंड से बहुत अधिक है। कहते हैं—बारह सैकड़े में अमेरिका में एक बच्चा पैदा हो जाता है, जबकि यहाँ कारों का उत्पादन इतना अधिक है कि एक कार हर पाँच सैकड़ बाद तैयार हो जाती है। अपने संगठन परिवार के एक सदस्य श्री आनंद प्रकाश उन दिनों अमेरिका के टैक्सास राज्य में ह्यूस्टन नगर (यहाँ नासा स्पेस रिसर्च सेंटर है, जहाँ से अंतरिक्ष के लिए केप कैनेडी से अंतरिक्ष यान उड़ते हैं) के एक मस्तिष्क एवं तंतुज्ञान प्रयोगशाला में शोध-कार्य कर रहे थे, अमेरिका संबंधी तथ्यों की उनसे सदैव जानकारी मिलती रहती है। २६।१२।६६ के पत्र में उन्होंने लिखा है, यहाँ कारों की संख्या बहुत अधिक है और उनकी संख्या इस गति से बढ़ रही है कि प्रत्येक २० कारों में एक नई कार अवश्य होगी। यातायात की इस वृद्धि पर चिंता करते हुए २६ जनवरी, ९६६६ के “संडे स्टैंडर्ड” ने लिखा है कि पिछले वर्ष केवल अमेरिका के न्यूयार्क शहर में गैर-जहाजों के धुएँ में ३६००००००० टन की वृद्धि हुई है।

२७ जुलाई, ९६६७ के एक प्रसारण में बी. बी. सी. लंदन ने बताया कि लंदन में यातायात की वृद्धि यहाँ तक हो गई है कि कई बार ट्रैफिक रुक जाने से १७-१७ मील की सड़कें जाम हो जाती हैं। यहाँ के सिपाहियों को जो ट्रैफिक पर नियंत्रण करते हैं, अन्य वस्त्रों के साथ मुँह पर एक विशेष प्रकार का नकाब (मास्क) भी पहनना पड़ता है, यदि वे ऐसा न करें तो उन सड़कों पर उड़ रहे मोटरों के धुएँ में ५ घंटे खड़ा रहना कठिन हो जाए। इन क्षेत्रों में स्थायी निवास करने वालों के स्वास्थ्य, मनोदशा और स्नायुविक दुर्बलता के बारे में तो कहा ही क्या जा सकता है ? आज सारे इंग्लैंड में इतना अधिक धुआँ छा गया है कि वहाँ की प्रतिवर्ग मीटर भूमि पर प्रति वर्ष एक किलोग्राम राख जमा हो सकती है।

मोटरें, इंजिन, मिल और फैक्टरियाँ अकेले इंग्लैंड और अमेरिका में ही नहीं सारी दुनिया में हैं और बढ़ रही हैं। सन १६०० की जाँच के अनुसार सारे संसार में पहले ही २,६०,००,००,००,००० टन कार्बन गैस छा गई थी, अब उसकी मात्रा बीस गुने से भी अधिक है। रेडियो विकिरण का दुष्प्रभाव उसके अतिरिक्त है। धुएँ के यह उमड़ते हुए बादलों से एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब सारी पृथक्षी ही मृत्युघाटी की तरह गर्म हो जाए और यहाँ किसी के भी रहने योग्य वातावरण न रह जाये। बहुत होगा तो पेड़-पौधे खड़े उस धुएँ को पी रहे होंगे; मनुष्य तो लुप्त-जीवों की श्रेणी में पहुँच चुका होगा।

कल-कारखाने रेलवे इंजन, ताप, बिजली घर, मोटरें, वायुयान इनकी संख्या द्रुतगति से बढ़ती जा रही है। इनमें जलने वाले पेट्रोल, डीजल, कोयले से निकलने वाली कार्बन मोनो-ऑक्साइड और सल्फर डाई-ऑक्साइड जैसी भयंकर गैसें वायुमंडल को दिन-दिन अधिक विषाक्त करती जा रही हैं। नगरों की बढ़ती हुई जनसंख्या, वाहनों की धमाचौकड़ी, कारखानों की रेल-पेल, घरों में ईंधन का अधिक खर्च, हरियाली की कमी आदि कारणों से हवा में हानिकारक तत्त्वों का परिमाण बढ़ता ही चला जा रहा है। धूल एवं धुएँ में इनका बाहुल्य रहता है। सौंस के साथ वे शरीरों में प्रवेश करते हैं और उन्हें दुर्बल एवं रुग्ण बनाते चले जाते हैं।

अकेले दिल्ली नगर की रिपोर्ट यह है कि वहाँ ट्रक, बस, मोटर आदि के साइलेंसर प्रतिदिन २० हजार पौंड से भी ज्यादा सल्फर डाई-ऑक्साइड गैस हवा में फैकते हैं। अकेला ताप बिजली घर ६५ पौंड ऐसी गैस नित्य पैदा करता है, जो शरीर के लिए ही नहीं, इमारतों और लोहे के पुलों के लिए भी हानिकारक है। आगे का ताजमहल इस नगर की गैसों के कारण जला जा रहा है। उसे देर तक सुरक्षित रखने के लिए ऐसे घोल पोतने की बात सोची जा रही है, जिससे उस सुंदर संगमरमर का क्षरण रोका जा सके।

कार्बन मोनो ऑक्साइड गैस यदि हवा में सात सौवें भाग में होगी तो उसमें साँस लेने वाला मर जायेगा। यदि उनका लाखवाँ भाग होता तो उस क्षेत्र के प्राणी बीमार पड़ जाएँगे।

औद्योगिक शहरों के ऊपर छाई धुंध कभी भी देखी जा सकती है। उसमें कार्बन, सल्फेट, नाइट्रेट, सीसा, हाइड्रो-कार्बन के यौगिकों की भरमार रहती है। धूलि और धुआँ मिलकर एक ऐसी 'स्मोक' चादर तानते हैं, जिसके नीचे रहने वाले न केवल मनुष्यों का वरन् पेड़-पौधों का भी दम घुटने लगता है। उनका स्वाभाविक विकास बुरी तरह अवरुद्ध हो जाता है।

औद्योगिक कारखाने निरंतर कार्बन डाई-ऑक्साइड, सल्फर डाई-ऑक्साइड, क्लोरीन, जली हुई रबड़ जैसे लगभग ३००० प्रकार के विष उत्पन्न करते हैं। यह हवा में छा जाते हैं और उस प्रदेश में साँस लेने वालों को उसी हवा में साँस लेने के लिए विवश रहना पड़ता है। बेचारों को यथार्थता का पता भी नहीं चलता कि इन शहरों में दीखने वाली चमक-दमक के अतिरिक्त यहाँ वायु में विषाक्तता भी है, जो उनके स्वास्थ्य की जड़ें निरंतर खोखली करती चली जाती हैं।

कारखानों से निकलकर हवा में सल्फर डाई-ऑक्साइड कार्बन-मोनोऑक्साइड, स्मोक रिएक्टेट, कार्बन डाई-ऑक्साइड, ओजोन और बारीक कण मिलते हैं। साथ ही कार्बन-कण, सीसे के कण, धातुओं वाले कारखानों से धातु कण आदि भी शामिल होते रहते हैं।

सल्फर डाई-ऑक्साइड गैस से इंफाइजिमा, हृदय रोग आदि हो जाते हैं। हवा नम हुई तो इसी गैस से सल्फ्यूरिक अम्ल बन जाता है, जो भवनों और वनस्पतियों को क्षति पहुँचाता है तथा फौलाद को भी बरबाद कर देता है।

कार्बन मोनो ऑक्साइड गैस रक्त के हीमोग्लोबिन में मिलकर रक्त की ऑक्सीजन धारण क्षमता में कमी ला देती है, इससे

थकान और दुर्बलता आ जाती है और सिर चकराने की घटनाएँ भी इससे बढ़ जाती हैं।

फिर इन जहरीली गैसों से धुएँ के धुंध बनते हैं, जिससे कैंसर, श्वसन-तंत्र के विभिन्न रोग, हृदय रोग आदि फैलते हैं। ओजोन से वनस्पति क्षतिग्रस्त होती है। बारीक कणों से वस्तुएँ मैली हो जाती हैं, औंखों की देखने की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इंजनों को स्टॉर्ट करने के लिए पैट्रोल में शीशा मिलाया जाता है, किंतु उसके कारण जो जहरीला धुआँ उत्पन्न होता है, उससे वायु मंडल की विषाक्तता दिन-दिन बढ़ती जा रही है।

वायु में धुएँ के बढ़ने का अर्थ होता है—उसकी कीटाणुनाशक शक्ति का नाश। स्पष्ट है, वायु में कीटाणुओं को मारने वाली क्षमता नष्ट होंगी तो कीटाणु भारी मात्रा में बढ़ेंगे और कृषि नष्ट करेंगे। अमरीका के सबसे अधिक वायु-प्रदूषण वाले इन क्षेत्रों में कृषि कीटाणुओं की यहाँ तक भरमार पाई जाती है कि कभी किसी खेत में कीटाणुनाशक औषधि न पहुँचे तो उससे एक दाना बचकर न आये, जबकि डी० डी० टी० जैसी कीटाणुनाशक दवाओं के प्रयोग से अन्न विषेला बनता है, दोनों ही समस्याएँ भयंकर हैं, उनसे बचाव का एक ही उपाय है धुआँ बढ़ाने वाले उद्योगों का स्थान लघु-कुटीर उद्योग और हस्त शिल्प ले लें तथा यहाँ का विस्तार न केवल भारतवर्ष वरन् सारे विश्व में किया जाये।

कैलीफोर्निया में धुएँ के कुहरे से ७५ मिलियन डालर (लगभग ६५ करोड़ रुपये) की फसलों को प्रत्यक्ष नुकसान पहुँचता है, अप्रत्यक्ष क्षति १३२ मिलियन डालर की औंकी गई है, यही समस्या अन्य राज्यों में भी है।

जान टी० मिडिल्टन (डाइरेक्टर यूनिवर्सिटी स्टेटवाइड एयर पॉल्यूशन रिसर्च सेंटर) का कहना है कि फोटो कैमिकल्स वाले वायु प्रदूषण से सभी २७ स्टेट्स प्रभावित हुई हैं, पर कोलंबिया के कुछ जिले सर्वाधिक। इनकी फसलें तो पिछले दिनों नष्ट होते-होते बचीं।

इसके अतिरिक्त डस्ट पार्टीकल्स, ठोस और द्रव केमिकल्स, जिनमें तेल और कोयला मिला होता है उनसे सम्मिश्रित कोहरा भी फसलों को प्रभावित करता है। गैसों से हुआ वायु प्रदूषण जिनमें हाइड्रोकार्बन्स, नाइट्रोजन ऑक्साइड, फ्लोरिड्स, सल्फर डाई-ऑक्साइड शामिल हैं, वह भी फसलों को नष्ट करता है। सूखान घास, शकर के कण्ठों, दालें, पान, अलफाफा ओट्स, मूँगफली, एप्रिकाट्स, सिटरस, अंगूर, प्लंबस, अर्चिट्स पेटूनियस, स्पैन ड्रैगन्स, लार्क्स और रे ग्रास की जाँच करने पर पता चला है कि वे वायु प्रदूषण से विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। यदि इनको इससे न बचाया जा सका तो एक दिन वह आ सकता है कि जब ये पूरी तरह विषाक्त होने लगेंगे और इनको जंगली फलों के समान अखाद्य मान लिया जायेगा।

१६वीं शताब्दी के अंत में पृथ्वी मंडल पर कार्बन गैस की मात्रा ३,६०,००,००,००,००० टन थी, संडे स्टैंडर्ड के २६ जनवरी, १६६६ अंक ने इसमें वृद्धि पर चिंता करते हुए लिखा है कि अकेले अमेरिका के न्यूयार्क शहर में ही एक वर्ष में ३६०००००० टन धुएँ की वृद्धि हुई, जबकि संसार में कितने शहर हैं और उनमें धुआँ-उद्योग कितना बढ़ रहा है ? इसके सुविस्तृत ऑक्डे निकाले जाएँ तो यही कहा जा सकेगा कि संसार एक ऐसी प्रलय की ओर जा रहा है, जिसमें जल वृद्धि या उपज वृद्धि न होकर केवल धुआँ इतना सघन छा जायेगा कि मनुष्य उसी में तड़फड़ाकर मर जायेगा।

धुएँ की समस्या आज शहरी क्षेत्रों की ही समस्या नहीं रह गयी, उसके दुष्प्रभाव की लपटें अब गाँवों की ओर भी आने लगी हैं। एक व्यक्ति बीड़ी-सिगरेट पीता है, जहाँ तक मानवीय स्वतंत्रता की बात है बीड़ी-सिगरेट क्या, लोग अफीम तक खाते हैं, यदि बीड़ी-सिगरेट का धुआँ पीकर लोग बाहर न निकालें, तब तो ठीक पर वे $\frac{3}{4}$ धुआँ पेट से बाहर उगलकर शेष वायु को गंदा बनाते हैं

तो दूसरे विचारशील लोगों का यह नैतिक अधिकार हो जाता है कि वे अपने और भावी पीढ़ी की स्वास्थ्य रक्षा के लिए उनको न केवल समझाकर वरन् संघर्ष करके भी रोकें। यही बात ग्रामीण किसानों के भी पक्ष में है। शहरों द्वारा बढ़ रही धुएँ की दाढ़ को कम न किया गया तो वही गंदा और विषेला धुआँ खेती को नष्ट कर सकता है। इस स्थिति में यंत्रीकरण के प्रभाव को प्रत्येक तरीके से निरस्त करना हम सबका नैतिक कर्तव्य हो जाता है।

जो फसलें अधिक संवेदनशील होती हैं, जैसे—फूल, सरसों, अरहर आदि। वह धुएँ से बहुत जल्दी प्रभावित होती हैं, न्यूजर्सी और कैलीफोर्निया में इसके प्रत्यक्ष उदाहरण देखने में आये हैं।

अगले दिनों कारखाने अणु शक्ति से चलाने की बात सोची जा रही है, पर उसमें विकिरण का दूसरे किस्म का खतरा है। उस दशा में कदम बढ़ाते हुए इस खतरे को ध्यान में रखना होगा कि अणु शक्ति से उत्पन्न विकिरण भी एक संकट है। एक माध्यम से दूसरे माध्यम में जाते हुए रेडियोएक्टिविटी की विषाक्तता में हजारों गुनी वृद्धि हो जाती है, इस तथ्य को वैज्ञानिक भली-भाँति जानते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संघ की डॉक्टरों की रिपोर्ट के अनुसार संसार के रोगियों की मृत्यु में अन्य रोगियों तथा फेफड़े के रोगियों का अनुपात पाँच और एक का है। हर पाँच रोगियों में एक क्षय या फेफड़े के कैंसर से मरता है। ७५ वर्ष की आयु से ऊपर की गणना करें तब तो फेफड़े के रोगों से मरने वालों की संख्या एक तिहाई हो जाती है।

फेफड़ों का स्वास्थ्य सीधे-सीधे वायु से संबंध रखता है। निसर्ग ने प्राणियों को वायु का अकूत भंडागार दिया है और पग-पग पर उसको स्वच्छ रखने की व्यवस्था की है, इतना होने पर भी यदि फेफड़े का रोग मानव जाति को इतना संत्रस्त कर रहा हो तो समझना चाहिए कि मनुष्य कहीं कोई भयंकर भूल कर रहा है।

भारतवर्ष में प्रति मिनट एक रोगी क्षयरोग (फेफड़े के रोग) से मरता है, अर्थात् एक दिन में ७४४० और प्रतिवर्ष ५२५६०० लोगों की मृत्यु टी० बी० से होती है। यह ऑकड़े कोई ४४ वर्ष पुराने हैं, जबकि इन दिनों वायु प्रदूषण के साथ रोगों में भी असाधारण वृद्धि हुई है। अनुमान है कि इस समय देश में ७०-८० लाख व्यक्तिक्ति क्षयरोग से पीड़ित हैं। १६६५ में टी० बी० की जाँच करने वाला बी० सी० जी० टीका ८६.३ लाख व्यक्तियों को लगाया गया। जाँच से ५४.३४ लाख व्यक्ति अर्थात् कुल आबादी का दो तिहाई भाग किसी न किसी रूप में क्षयग्रस्त था। उस समय तक देश में ३४५१७ रोग शैयाओं से युक्त ४२७ क्षय रोग अस्पताल थे। अब उनकी संख्या तिगुनी-चौगुनी बढ़ गई है। अस्पताल बढ़ने से रोगियों की संख्या कम होनी चाहिए थी, किंतु बात हुई उल्टी अर्थात् अस्पतालों की खपत के लिए रोगियों की संख्या भी बढ़ी, जो इस बात का प्रमाण है कि संकट अत्यधिक गंभीर है, उसकी जड़ को ठीक किये बिना रोग पर नियंत्रण पा सकना संभव नहीं।

फेफड़े के रोगों का—क्षय रोग का सीधा संबंध प्राण वायु से है और वायु प्रदूषण ही उसका प्रमुख कारण है, पर यह बात अन्य देशों पर जहाँ मशीनीकरण बहुत तेजी से हुआ, अधिक लागू होती है।

● स्वास्थ्य-विशेषज्ञों की सामयिक चेतावनी

रोम की राष्ट्रीय अनुसंधान समिति के अनुसंधान निर्देशक श्री राबर्टो पैसिनो ने स्वास्थ्य संरक्षण समस्याओं पर आयोजित एक सम्मेलन में 'दी फैक्ट्स ऑफ इंडस्ट्रियलाइजेशन आन दी एनविरानमेंट' विषय पर एक निबंध पढ़ा। इसमें उन्होंने जलवायु प्रदूषण से उत्पन्न समस्याओं से आक्रान्त योरोप की दयनीय दुर्दशा का चित्र खींचा। उन्होंने कहा—औद्योगिकरण की घुड़दौड़ में लोग यह भूल गये हैं कि उसके साथ जो खतरे जुड़े हैं, उनका भी ध्यान

रखें। संपत्ति उपार्जन की इच्छा इतनी अनियंत्रित नहीं होनी चाहिए कि उसके बदले व्यापक जीवन संकट का खतरा मोल लिया जाए।

अमेरिका की सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा तथा राष्ट्रीय कैंसर संस्था ने औद्योगिक नगरों के वायुमंडल का विश्लेषण करके, पता लगाया है कि उसमें पायरीन जैसे इस प्रकार के तत्त्वों की भरमार है, वह मनुष्यों और जानवरों में कैंसर उत्पन्न करते हैं।

गत बीस वर्षों में फेफड़ों के कैंसर की चार सौ प्रतिशत वृद्धि हुई है। डॉक्टरों का कहना है कि मोटर गाड़ियों तथा कारखानों की चिमनियों से निकलने वाला धुआँ इसका प्रमुख कारण है। अमेरिका की वायु प्रदूषण संस्था ने पता लगाया है कि उस देश के कारखाने हर रोज एक लाख टन प्राणधातक सल्फर डाई-ऑक्साइड गैस उगलते हैं। नौ करोड़ मोटर गाड़ियों से निकलने वाली २५ लाख टन कार्बन मोनो ऑक्साइड का दैनिक योगदान इसके अतिरिक्त है। मोटरों के धुएँ में 'टेट्राइथाइल लेड' मिला होता है, वह मनुष्यों के स्नायु मंडल में अस्त-व्यस्तता और दिमाग में गड़बड़ी उत्पन्न करता है। पेट्रोल में शीशे की मात्रा बढ़ती जाने से यह विषाक्तता और भी अधिक बढ़ी है।

परीक्षणों से पता चला है कि मोटरों के धुएँ का प्रभाव शराब से भी अधिक घातक होता है। इस दुष्प्रभाव को इंग्लैंड के स्वास्थ्य संबंधी ऑक्स्डे देखकर सहज ही समझा जा सकता है। २४ नवंबर सन् १९६७ को लंदन से प्रसारित मानसिक स्वास्थ्य अनुसंधान निधि की वार्षिक रिपोर्ट में बताया गया है कि इंग्लैंड में मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। इस समय "मतिविभ्रम" नामक मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या ६० हजार के लगभग है। इनमें से अधिकांश ड्राइवर और घने धुएँ वाले क्षेत्र के ही लोग हैं।

इसी प्रकार १९०६ में धुएँ से फेफड़े के कैंसर के कुल १०० रोगी लंदन में थे, इसके ६० वर्ष बाद १९६६ में उस अनुपात

से बारह हजार की संख्या होनी चाहिए थी, जबकि पाई गई २७ हजार। अब यह वृद्धि और भी अधिक है।

आने वाले समय में यह धुओं पृथ्वी में अनेक अप्रत्याशित भयंकर परिवर्तनों के लिए वातावरण तैयार कर रहा है। इटली का पदुआ नगर कला की दृष्टि से सारे संसार में प्रसिद्ध है। गिओटी के पिटी पैलेस, पांटीवेकियो तथा दि वैसेलिका ऑफ सान लोरेजो (यह सब वहाँ की प्रसिद्ध इमारतें हैं) आदि नष्ट होते जा रहे हैं। वैज्ञानिक सर्वेक्षण बताते हैं, यह सब वायु की अशुद्धि के कारण हैं। इन ऐतिहासिक स्थानों के रख-रखाव में काफी धन और परिश्रम खर्च होता है, तब भी वायु की गंदगी से वे अपने आपको बचा नहीं पाते तो खुले स्थानों की सुरक्षा की तो कोई बात ही नहीं उठती। इन स्थानों में वह विषेली रासायनिक प्रक्रियाएँ वायु दुर्घटनाओं का ही कारण न होंगी, वरन् भूकंप, पृथ्वी-विस्फोट, सेमुद्र में तूफान आदि, कारण भी होंगी। नई संतान पर उसका असर गर्भ से ही होगा। अमेरिका में अभी से विकलांग कुरुल्प और टेढ़े-मेढ़े बच्चों की पैदाइशें प्रारंभ हो गई हैं। कुछ दिनों में खरदूषण, त्रिशिरा, मारीच जैसी टेढ़ी, कूबड़ी, भयंकर संतानें उत्पन्न हों तो कुछ आश्चर्य न होगा। वायु की अशुद्धि से मनुष्य जीवन का अंत बहुत निकट दिखाई देने लगा है, उससे कैसे बचा जाये अब इस प्रश्न को उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

● नहीं तो प्रलय के लिए तैयार रहें

कारखानों और वाहनों में जितना ईंधन इन दिनों जलाया जा रहा है और उससे जितनी अतिरिक्त गर्भी उत्पन्न हो रही है, उसका संकट कम करके नहीं आँका जाना चाहिए। वर्तमान क्रम चलता रहा तो आगामी २५ वर्षों में वातावरण में कार्बन डाई-ऑक्साइड की मात्रा अत्यधिक बढ़ जायेगी और उसकी गर्भी से ध्रुव प्रदेशों की बर्फ तेजी से पिघलने लग जायेगी। इसका प्रभाव समुद्रतल ऊँचा

उठने के रूप में सामने आता जायेगा और यह क्रम यथावत् चला तो सारी बर्फ गल जाने पर समुद्र का जल लगभग ४०० फुट उठ जायेगा और वह संकट धरती का प्रायः आधा भाग पानी में डुबो कर रख देगा। वह आज के क्रम से बढ़ते हुए समुद्री संकट को २५ वर्ष बाद ही उत्पन्न करना आरंभ कर देगा और ४०० वर्षों में वह संकट उत्पन्न हो जायेगा, जिसके कारण आज के वैज्ञानिक उत्साह को मानवी विनाश के लिए उदय हुआ अभिशाप ही माना जाने लगे।

शहरों में सड़कों पर दौड़ने वाले द्रुतगामी वाहन, बिजली का प्रयोग, थोड़ी जगह में अधिक मात्रा में जलने वाली आग, धिच-पिच इवास तथा शरीरों की गर्मी, कल-कारखाने आदि कारणों से तापमान ग्रामीण क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ा रहता है। बिजली के पंखे तापमान नहीं गिराते, केवल हवा को इधर से उधर घुमाते हैं। चुस्त एवं एक के ऊपर एक कपड़े लादने के फैशन ने शरीरों के इर्द-गिर्द की गर्मी और भी अधिक बढ़ा दी है। सड़कों और बसों की धमक से गर्मी बढ़ी-चढ़ी रहती है। पक्के मकान और पत्थर की सड़कों में तपन रहती ही है। इस बढ़े हुए तापमान में शहरों के निवासी अपनी स्वाभाविक शारीरिक क्षमता को गँवाते चले जा रहे हैं।

बढ़ते हुए वायु प्रदूषण का परिणाम यह हो सकता है कि पिछली हिम प्रलय की तरह फिर एक हिम युग सामने आ खड़ा हो और तंबी अवधि के लिए धरती का एक बड़ा भाग प्राणियों के रहने योग्य न रहे, उस पर प्रचंड शीत की सत्ता स्थापित हुई दीखने लगे।

अमेरिका की वातावरण एजेंसी के मौसम विशेषज्ञ विलियम कीव का कथन है कि यदि ५० करोड़ टन दूषित पदार्थ अपने वायुमंडल में और मिल जाए तो पृथ्वी का तापमान ११ अंश सेंटीग्रेड गिर जायेगा। जिससे वृक्ष, वनस्पतियाँ और कोमल शरीर

वाले प्राणियों का जीवित रहना कठिन पड़ जायेगा। तब दुनिया में प्रायः आधी हरियाली नष्ट हो जायेगी।

डॉ० अर्ल डब्ल्यू वारेट ने हिसाब लगाया कि वायुमंडल में २५ लाख टन दूषित पदार्थ घुल चुके हैं। ५ करोड़ टन के संकट बिंदु तक पहुँचने में यों भी अभी २० युना अधिक प्रदूषण घुसने के लिए कुछ समय लगेगा, पर प्रदूषण जिस क्रम से बढ़ रहा है, उसे देखते हुए शायद हजार वर्ष भी इंतजार नहीं करना पड़ेगा और हिम प्रलय की विभीषिका धरती निवासियों के सामने आ खड़ी होगी। यह प्रदूषण धुंध की तरह छा जायेगा और सूर्य की किरणें उस छतरी को भेदकर कम मात्रा में ही भूतल तक पहुँच पावेंगी। ऐसी दशा में हिम युग आने की संभावना स्पष्ट है।

● इतना तो हम सब करें ही

सरकारों को अपनो आमदनी बढ़ाने के लिए टैक्स चाहिए। इस अर्थ युग में जन-स्वास्थ्य के लिए गंभीर चिंतन कौन करे ? जड़ सूखती रहे और पत्तियों पर पानी छिड़का जाता रहे जैसी उपहासास्पद स्थिति आज बनी हुई है। सरकारें जितना धन स्वास्थ्य संरक्षण पर खर्च करती हैं, उतने को जीवन के रचनात्मक उत्थान में लगाया जाता तो आज स्थिति यह न होती। उपार्जन के नाम पर विष को बढ़ाते रहने की छूट देकर, हजार प्रयत्नों से भी स्वास्थ्य बचाया नहीं जा सकता, अतएव अपनी सुरक्षा व्यवस्था के लिए जनसत्ता को स्वयं ही कठिबद्ध होना पड़ेगा। केवल मशीनीकरण की तीव्र गति को, जनसंख्या वृद्धि को ही नहीं, अपितु कुछ और भी सहयोग देना होगा, जिससे प्रदूषण को कम तो किया ही जा सके, लोगों को मशीनों की जगह कुटीर उद्योग अपनाने तथा उन्हीं से बनी वस्तुएँ ग्रहण करने की भी आदत डालनी चाहिए।

वायु शुद्धि के लिए वृक्ष अत्यंत उपयोगी हैं, वे गंदी हवा स्वयं पी जाते हैं और बदले में स्वच्छ हवा देते हैं, पर उन बेचारों को भी

बुरी तरह काटा जा रहा है। वन संपदा नष्ट हो रही है और उनकी जगह नित नये कारखाने खुलते जा रहे हैं।

कृषि के लिए जमीन की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए जंगलों का सफाया होता जा रहा है। इधर लकड़ी की जरूरत भी जलाने के लिए, इमारती आवश्यकता तथा फर्नीचर के लिए बढ़ी है। लकड़ी के कोयले की भी खपत है। इस तरह बढ़ती हुई आवश्यकताएँ वन-संपदा को नष्ट करने में लग गई हैं। पुराने वृक्ष कटते चले जा रहे हैं, नये लग नहीं रहे हैं। सन् १९६२ में संसार के बाजारों में १ अरब घन मीटर लकड़ी की जरूरत पड़ी। सन् १९८५ तक यह मात्रा दूनी हो गई थी। यदि काटना जारी रहा और उत्पादन की उपेक्षा की गई तो वृक्षरहित दुनिया कुरुप ही नहीं, अनेक विपत्तियों से भरी हुई भी होगी।

वृक्ष और वनस्पति वर्षा में तथा नदी-नालों के प्रवाह में मिट्टी के बह जाने को रोकते हैं। जल के तेज बहाव को, बाढ़ों को नियंत्रित करते हैं। इटली का दुखद उदाहरण हमारे सामने है। वहाँ कई शताब्दियों से वन संपदा की बरबादी ही होती चली आ रही है। फलस्वरूप भूमि की भी भारी क्षति हुई। अकेली आर्वों नदी ही हर साल २ करोड़ ६० लाख विंचटल मिट्टी बहा ले जाती है और समुद्र में पटक आती है। नवंबर १९६६ की प्रलयंकार बाढ़ ने एक प्रकार से तबाही ही खड़ी कर दी। तब कहीं वन संपदा की बर्बादी के खतरे को लोगों ने समझा। विशेषज्ञों ने बताया है कि यदि इटली को इस तरह बाढ़ों से बचाना है तो उसे ८६ लाख एकड़ में वृक्ष लगाने होंगे। अन्वेषण ने सिद्ध किया है कि वन संपदा से युक्त भूमि में बाढ़ का खतरा ५० प्रतिशत कम रहता है, जहाँ काटने में उत्साह हो वहाँ कितनी ही वृक्ष वनस्पतियों का वंश ही लुप्त होता चला जाता है। स्विट्जरलैंड के आगोविया प्रांत में इसी शताब्दी में लगभग ४०० वन-संपदा की उपयोगी जातियों का अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

वायु शुद्धि का दूसरा उपाय है हवन। इस प्रयोग में अणु विकिरण तक को शुद्ध करने की शक्ति है। गोपालन भी ऐसे संकटों से रक्षा करता है, पर सम्यता के नाम पर अब हवन को दकियानूसी कहा जाता है और गोपालन की जगह गो मारण को महत्त्व दिया जा रहा है।

वर्धा की मैत्री पत्रिका में केंद्रीय मंत्री श्री कें० कें० शाह के साथ रूसी वैज्ञानिक शिष्ट मंडल की वार्ता का वह सारांश छपा है, जिसमें रूसी वैज्ञानिकों ने यह कहा था कि गाय के दूध में एटमिक रेडिएशन से रक्षा करने की सबसे अधिक शक्ति है। अगर गाय के धी को अग्नि में डालकर, उसका धुआँ पैदा किया जाये, जिसको भारतीय भाषा में हवन कहते हैं तो उससे वायु मंडल में एटमिक रेडिएशन का प्रभाव बहुत कम हो जायेगा। इतना ही नहीं—गाय के गोबर से लिपे हुए मकान में रेडिएशन घुसना बहुत कठिन है।

वायु को निरंतर गंदा बनाते जाने का और उसके शुद्धि उपायों से विमुख रहने का हमारा रवैया अंततः अपने लिए ही घातक सिद्ध होगा।

यज्ञो द्वारा वायु मंडल के परिष्कार और जलवायु नियंत्रण की बात को अब हास्यास्पद समझा जाता है, पर दरअसल आलोच्य यज्ञ करने और कराने वाले नहीं, वे तो आज नहीं तो कल निश्चित रूप से विश्व-संरक्षक माने ही जाने वाले हैं, दरअसल निंदनीय तो आज की भौतिकता की वह बाढ़ है, जो मनुष्य जाति को यांत्रिकता के रोग और धुएँ की घुटन से भरती ही जा रही है। वायु प्रदूषण आज की मुख्य समस्या है, उसे न रोका गया तो मानव अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है।

टैक्सास विश्वविद्यालय का क्रीड़ागान बनाया गया। इसके लिए आस-पास के बहुत-से वृक्ष काटे गये। इसका विरोध भी किया गया कि इस शिक्षा केंद्र के लिए हरीतिमा की भी उपयोगिता है, उसे नष्ट न किया जाए, पर किसी ने सुना नहीं। सायप्रस के दर्जनों

विशाल वृक्ष काटकर धराशायी कर दिये गये। जब वह उपवन वृक्षों का बूचरखाना बन रहा था तो एक स्नातक कटे हुए वृक्ष के कोंतर में एक दिन तक विरोध प्रदर्शन के लिए बैठा रहा, उसके हाथ में पोस्टर था “ट्रीज एंड वी विलांग टू गेदर” अर्थात् वृक्ष और मानव साथ-साथ जीते हैं। वृक्षों का मरण प्रकारांतर से मनुष्यों का ही मरण है। इस बात को ध्यान में रखते हुए वृक्षों की संख्या तेजी से बढ़ाई जानी चाहिए। अपने घरों के आस-पास तथा जहाँ भी उपयुक्त स्थान मिले इसे इस युग का सर्वोपरि पुण्य मानकर, वृक्षारोपण करने और दूसरों को भी इन तथ्यों की जानकारी देने की श्रेयस्कर परंपरा डालनी चाहिए।



खबरदार ! इस पानी को पीना मत, खतरा है

*

प्रजागण का प्रश्न था—पितामह हमें आरोग्य रक्षा की सरल विधि बताइये।

महर्षि ने बताया—

“सर्वभास् भेषजम् अप्सुमे”।

“जीवनां जीवनम् जीयोजगत्”।

—ऋग्वेद

हे मनुष्यो ! जल प्राणियों का प्राण है। मैंने तुम्हारे लिए सभी प्रकार की औषधियाँ जल में सुरक्षित रखी हैं।

आपो इद्वां उभेषजोरायो अभीव चातकी।

आपस सर्वस्य भेषजो स्तास्तु कृष्णन्तु भेषजः॥

यह जल औषधि है। रोगों को नाश करने वाला, रोगों का शत्रु है। यह तुम्हारे सभी रोग दूर करेगा। “अप्स्वन्तर यमृतमनु” (अथर्ववेद) अधिक क्या कहना, यह जल तो अमृत है।

जल के महत्त्व को भारत ही नहीं, विश्व के सभी देश और वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। फिनलैंड में हजारों वर्ष से शनिवार के दिन सामूहिक स्नान करने की प्रथा है। बड़े घरों में लोग गृह-वाटिकाओं में तालाब रखते हैं। जर्मनी में कटि स्नान और जल-चिकित्सा को व्यापक महत्त्व दिया गया है। वहाँ के वैज्ञानिक ब्रांड लीभर मीस्टर तथा जीम सीन ने जल-चिकित्सा पर शोध किया और उसे बहुत लाभकारी बताया, जिससे वहाँ जल-चिकित्सा का सर्वत्र प्रसार हुआ। कुछ तो गाँव के गाँव ऐसे हैं, जहाँ घर-घर जल-चिकित्सा होती है। अमेरिका के फिलाडेलिफिया, न्यूयार्क वर्जीनिया, पेसिलवेनिया में जल-चिकित्सा का बहुत प्रसार हुआ है। वियना के वैज्ञानिक विंटरनीज ने अपने यहाँ जल चिकित्सा के

क्लास चलाये। रोम, जापान, चेकोस्लोवाकिया में प्राकृतिक झरनों आदि में स्नान का प्रचलन है, वहाँ स्नान पर वैज्ञानिक खोजें हुई हैं। भारतवर्ष में तीर्थों के महत्त्व के साथ वहाँ स्नान का महत्त्व अनिवार्य रूप से जुड़ा है। गंगाजी का जल तो अमृत की तरह पूज्य माना गया है। यह सब देखते हुए उसे प्राणियों का प्राण कहा जाये तो उसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं। आयुर्वेद का कथन है—प्रातःकाल सोकर उठते ही एक गिलास शीतल जल पीने वाला सदैव नीरोग रहता है, मस्तिष्क शीतल, पेट का पाचन-संस्थान मजबूत, औँखों में चमक रहती है। शुद्ध जल मनुष्य का जीवन है, उसके बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।

खेद है कि जल को इतना अधिक महत्त्व देने और उसकी शुद्धता को अनिवार्य मानने वाली मनुष्य जाति ही आज उसे गंदा करके स्वयं भी नष्ट होने, बीमार और चिररोगी होने के सरंजाम जुटा रही है। अमेरिका के प्रसिद्ध विचारक श्री आर्थर गाडफ्रे एक संस्मरण में लिखते हैं—मैं उन दिनों हैसब्राउक हाइट्स पढ़ने जाता था। उन दिनों न्यूजर्सी में सैडिल नदी के तट पर पहला कारखाना लगा था। कारखाने की कीचड़-बदबू इस तरह से उस में गिरती थी कि हम लोग स्नान नहीं कर सकते थे। स्वार्थी और पेटार्थी लोगों ने हमारे निवेदन को नहीं सुना था और अब तो पैसाइक, हैकेनसैक खाड़ी, हड्डसन सारी नदियाँ नरक कुंड बन गई हैं, सारा जल दूषित हो गया। मनुष्य जाति जल को दूषित कर आत्मघात की तरह स्वयं रोगी बनने जा रही है, इसे उसकी भूल नहीं मूर्खता ही कहा जा सकता है।

वायु प्रदूषण के समान आज जल-प्रदूषण भी संसार के सामने एक महँगी समस्या बन गया है। अधिकांश शहर नदियों के तट पर बसे होते हैं, भारी उद्योग शहरों में ही होते हैं। कनाडा आदि विकसित देशों में तो हाइपीरियन जैसे टैक भी बनाये गये हैं, जो शहरों का मल और गंदगी को साफ कर देते हैं। केवल शुद्ध

किया हुआ जल ही नदियों में गिरने देते हैं, किंतु भारतवर्ष में तो शहरों के लाखों लोगों का मल-मूत्र भी नदियों में ही गिराया जाता है। गंगा आदि काल से संस्कृति का अंग रही है। वर्ष की ७२ अमावस्याओं के ७२ स्नान तो निश्चित ही हैं। पर्व और त्यौहार अलग, जिनमें आज भी करोड़ों लोग स्नान करते और बर्तनों में जल भर ले जाते हैं। आज अधिकांश मल-मूत्र का प्रवाह हो गई है। ऋषिकेश के एंटी बायोटिक कारखाने से लेकर कलकत्ते तक उसमें कितना मैला, कूड़ा-कचरा गिरता है, उसकी याद करने मात्र से जी सिहर उठता है और लगता है, आज सचमुच ही गंदगी की दृष्टि से दुनियाँ-नरक हो गई है।

किसी समय अमेरिका के सुंदर झरने जो अपनी प्राकृतिक छटा के कारण प्रकृति-प्रेमियों का मन ललचाते थे और लोग वहाँ कुछ समय बिताकर शांति प्राप्त करने के लिए जाया करते थे, अब उनके किनारों पर बड़े-बड़े सूचना बोर्ड लगे हैं—डेंजर, पोल्यूटैड वाटर, नो स्वीमिंग, खबरदार, पानी जहरीला है, इसमें तैरिये मत ! औद्योगिक नगरों के निकटवर्ती सरोवर एक प्रकार से मृतक संज्ञा में गिने जाते हैं। उनका पानी किसी के उपयोग में नहीं आता। नदियाँ अब गंदगी बहाने वाली गटरें भर रह गई हैं। राइन नदी को तो योरोप की गटर कहा जाता है।

स्वीडन सरकार ने डिडेलालबेन नदी को अपना प्राकृतिक रूप बनाये रखने के लिए सुरक्षित घोषित कर दिया है। यह इसलिए किया गया कि बढ़ती हुई औद्योगिक प्रगति कुछ दिनों में इस संसार की जल राशि की शुद्धता को नष्ट कर देगी, पानी में सर्वत्र विष भरा होगा। मजबूरी में पीना तो उसे ही पड़ेगा और उसके दुष्परिणाम भी कष्टकर असाध्य रोगों के रूप में सहने ही होंगे। तब भावी पीढ़ियाँ यह जानना चाहेंगी कि शुद्ध जल कैसा होता है ? इसके लिए कम से कम जल देवता का एक तीर्थ तो रहना ही चाहिए, जहाँ उसे अपने असली रूप में देखा जा सके। पुरातत्त्व

संग्रहालय इसीलिए बनाये जाते हैं कि भूतकाल की झाँकी देख सकना संभव हो सके। अगले दिनों भी यह नदी शुद्ध जल ही प्रवाहित करती रहे और एक दर्शनीय स्थान समझी जाए, इसलिए इसमें मल-मूत्र अथवा कारखानों की गंदगी डालने पर प्रतिबंधित रखा गया है।

ऐरिजोना के प्रोफेसरों की एक समिति ने जनता की ओर से ताँबा बनाने वाली छह फैक्टरियों पर दो अरब डालर का दावा किया है। वादियों का कहना है कि इन कंपनियों ने जनता के जान-माल की जो अपार क्षति की है, उसके बदले इन्हें इतना हरजाना तो देना ही चाहिए।

ऐसा ही एक मुकदमा जनता की ओर से न्यूयार्क की प्रमुख महिलाओं ने डी० डी० टी० बनाने वाली ३०० कंपनियों के विरुद्ध दायर किया है और ३० अरब डालर की इस आधार पर माँग की है कि उनके उत्पादन ने जन-स्वास्थ्य को भारी हानि पहुँचाई है।

रसायन विशेषज्ञ नारवल्ड डफिमराइट ने नार्वे की सेंट फ्लेयर झील से पकड़ी गई मछलियों का रासायनिक विश्लेषण किया तो पारे की खतरनाक मात्रा पाई गई। मछलियों में पारा कहाँ से आया ? अधिक बारीकी से पता लगाया तो मालूम हुआ कि औद्योगिक रसायनों में पारे की भी एक बड़ी मात्रा होती है और वह गंदगी के रूप में बहती हुई झीलों में पहुँचती है। सोचा यह गया था कि पारा भारी होने के कारण जल की तली में बैठ जायेगा। कुछ मछलियाँ यदि पारे से मर भी गईं तो कुछ विशेष हानि न होगी, पर वह अनुमान गलत निकला।

शोधों ने बताया कि जल में पहुँचकर पारे की रासायनिक प्रतिक्रिया होती है। उसकी सूक्ष्म मात्रा जीव कणों में प्रवेश कर जाती है। इन्हें छोटे कीड़े खाते हैं और वे मछलियों की खुराक बनते हैं। इस प्रकार पारे की रासायनिक प्रतिक्रिया मछली के मांस में एक इकाई बनकर बस जाती है। विश्लेषण कर्ताओं ने बताया

कि इस प्रकार की पारा प्रवाहित मछलियों को खाने वाले मनुष्य अंधे या पागल हो सकते हैं और विशेष परिस्थितियों में तो वे मर भी सकते हैं।

इस वैज्ञानिक निष्कर्ष के उपरांत उद्योगों में पारे के उपयोग पर प्रतिबंध लगाये गये हैं। इस प्रकार के उद्योगों में कागज निर्माण और समुद्री जल में से कलोरीन निकालने वाले कारखाने अग्रणी थे।

इस निष्कर्ष ने अमेरिका को भी चौकट्टा किया है, उसने भी अब पारे के उपयोग पर प्रतिबंध लगाया है, फलतः उसमें ८६ प्रतिशत कमी तत्काल कर दी गई है। फिर भी यह प्रश्न तो है ही कि पारे की जो मात्रा जल में चली गई, उसका प्रभाव कम से कम ५० वर्ष तक तो बना ही रहेगा। उसके द्वारा होने वाली हानियों से कैसे बचा जाये ?

पारे की भाँति कुछ और भी ऐसे ही रसायन हैं, जिनका खतरा कम नहीं, कुछ ज्यादा ही है। उन्हें भी उद्योगों में भरपूर मात्रा में प्रयोग किया जाता है और उनका कचरा भी जल-दूषण में अग्रणी ही रहता है। डार्ट माउथ मेडीकल कालेज के डॉक्टर हैनरी श्रुडर ने अमेरिकी प्रशासन को चेतावनी दी है कि सीसा, निकिल, कार्बोलिक जैसे पदार्थ भी कम धातक नहीं हैं। इनका प्रयोग इन दिनों बहुत चल पड़ा है। इनकी अति सूक्ष्म मात्रा भी रक्तचाप एवं फेफड़ों का कैंसर उत्पन्न कर सकती है।

अमेरिका में कचरा वृद्धि का एक और कारण है। वहाँ ४८ अरबे डिब्बे, २८ अरब बोतलें, १० करोड़ टायर, ७० लाख मोटर गाड़ियाँ हर साल कचरा बन जाती हैं। इसी तरह की और भी बहुत-सी चीजें हैं, जिनको रद्दी हो जाने के बाद कचरा ही बनना पड़ता है और फिर उसे समुद्र में पटक दिया जाता है। फलतः यह कूड़ा समुद्र तट के किनारे को खतरा बनता जा रहा है। इस कचरे में गंदगी जड़ जमाती है और फिर समीपवर्ती क्षेत्र के लिए विपत्ति खड़ी करती है। थोड़ा इस्तेमाल करो, फेंक दो और

नया खरीदो' का नारा उस देश की विलासिता और समृद्धि बढ़ाने में कितना सहायक सिद्ध हुआ, यह तो समय ही बतायेगा, पर उससे कचरे में असाधारण वृद्धि हुई है। लोग अपनी पुरानी मोटरों के प्लेट उतारकर कहीं यों ही छोड़ जाते हैं। कारों के कब्रिस्तान हर जगह मौजूद मिलेंगे, डिल्के और बोतलों को कोई उठाता तक नहीं। इस समस्या से क्षुब्धि जनता ने 'अर्थ डे' मनाया और यह कचरा उनके बनाने वाली फैक्टरियों के दरवाजे पर पटककर पहाड़ लगा दिये और माँग की कि बनाने के साथ-साथ इनके रही होने पर इनका कचरा उठाने की जिम्मेदारी भी वे ही लें।

पानी में ऑक्सीजन की मात्रा घट जाने और विषाक्त तत्त्वों के बढ़ जाने से वहाँ वृक्ष वनस्पति विषेश होकर मर रहे हैं। बादलों में भी यह विष मिल जाता है और फिर जहरीली वर्षा के रूप में बरसता है, उससे पक्षी और पौधे दोनों ही झुलसते देखे गये हैं। मछलियाँ, मरती घटती जा रही हैं। जो उन्हें खाते हैं, वे बीमार पड़ते हैं। अब वहाँ जहरीली मछलियों की एक नई जाति विकसित हो रही है, जिसे 'कार्प' कहते हैं। इसने जहर भरे पानी में रहना और जीना तो सीख लिया है, पर मच्छीमारों के लिए तो ये किसी काम की नहीं रहीं।

अमेरिका में हर साल ७० लाख मोटरें तथा १० करोड़ टायर कचरा बन जाते हैं। ये ऑकड़े कुछ साल पहले के हैं। वहाँ २० करोड़ लोगों के पीछे ८५ करोड़ मोटरें हैं। अकेले लोस एंजिल्स नगर में २० लाख आबादी में १० लाख मोटरें हैं। वहाँ नई मोटर ३०० डालर की मिल जाती है। ऐसी दशा में पुरानी गाड़ियों की मरम्मत महँगी पड़ती है। पुरानी होते ही उन्हें कूड़े में फेंक दिया जाता है। यही हाल मोटर साइकिलों तथा दूसरी मशीनों का है। यह कचरा कहीं फेंका जाता रहेगा? यह प्रश्न उस देश की सरकार के लिए सिरदर्द बना हुआ है। फिलहाल तो यह कबाड़ समुद्र में गिराया जा रहा है, पर वह भी तो यह पहाड़ गिरते-गिरते पटने ही

लगेगा। समुद्र तटों का तो अभी भी बुरा हाल है। वहाँ इस कचड़े की सड़ांध निकट भविष्य में किसी बड़े स्वास्थ्य संकट का कारण बन सकती है।

सागर अंतराल के शोधकर्ता जैकवीस वाइवस ने समुद्र में बढ़ती हुई अशुद्धता को शोचनीय स्थिति में पाया है और जल प्रदूषण से समुद्रों की उपयोगिता नष्ट होने की आशंका व्यक्त की है। उन्होंने तेल कणों तथा दूसरे विषाक्त रसायनों की मात्रा बढ़ जाने के फलस्वरूप ४० प्रतिशत जल-जंतुओं के मर जाने का हिसाब लगाया है। उनका कथन है कि मछलियाँ ही नहीं, वनस्पतियाँ भी समुद्र तल से गायब होती चली जा रही हैं।

कीटाणुनाशक दवाओं में क्लोरीन जैसे पदार्थों का उत्पादन इन दिनों ५० लाख टन से अधिक है। उसकी स्वत्य मात्रा से ही चूहे जैसे छोटे जीव तत्काल मर जाते हैं। वह विष पदार्थ जलवायु में मिलकर इतना व्यापक होता जा रहा है कि ध्रुव प्रदेशों के निवासी मनुष्यों और पक्षियों तक के शरीर में वह तत्त्व पाया गया है।

कारखानों की गंदगी धूम-फिरकर—नदी नालों में होती हुई अंततः समुद्र में जा पहुँचती है। वृक्ष-वनस्पतियों पर छिड़के जाने वाले कृमिनाशक विष भी वर्षा जल के साथ समुद्र में ही जा पहुँचते हैं। अणु भट्टियों की राख को भी समुद्र में ही प्रश्रय मिलता है। समुद्र विशाल भले ही हो, असीम नहीं है। विष को पचाने की उसकी भी एक सीमा है। वह मात्रा जब बढ़ रही हो तो समुद्र का विषाक्त होना स्वाभाविक है। जमीन की तरह उस जल राशि में भी वनस्पतियाँ हैं, इन तैरने वाली वनस्पतियों से जल जगत् के लिए आवश्यक प्राण वायु उपलब्ध होती है। पृथ्वी पर फैली पड़ी प्राण वायु का एक बहुत बड़ा अंश इन जल वनस्पतियों—फिटो प्लैकटीन से ही मिलता है, समुद्र का जल जैसे-जैसे विषाक्त होता जाता है, इन वनस्पतियों का नाश होता जाता है। फलस्वरूप जल-जंतुओं के

लिए ही नहीं, धरती पर रहने वालों के लिए भी प्राण संकट उत्पन्न हो रहा है।

समुद्र का जल ही बादल बनकर सर्वत्र बरसता है। बादलों में वह विष घुला रहता है और विषैली वर्षा का जल पीकर उगी हुई बनस्पति भी वैसी ही बनती जाती है। उस घास पर पलने वाले पशुओं का दूध और मांस दोनों ही अभक्ष्य स्तर के बनने लगे हैं। अन्न और शाक, फलों में वे अवांछनीय तत्त्व बढ़कर मानव शरीरों में भी आरोग्य नष्ट करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न कर रहे हैं।

फिनलैंड के हेलसिंकी क्षेत्र का समीपवर्ती पानी पीने के लायक नहीं रहा, इसलिए १६० मील दूर से अच्छा पानी लाने का प्रबंध करना पड़ा है। साइप्रस के समीपवर्ती समुद्र जल में प्रदूषण भर जाने से उसका पर्यटन उद्योग ठप्प होता चला जा रहा है। यूनान में एथेंस क्षेत्र खतरे के स्तर तक पहुँच रहा है। नीदरलैंड भी इसी मुश्किल में फँसता चला जा रहा है। उन्होंने सुझाव दिया है कि जहाँ भी बड़े कारखाने खड़े किये जायें वहाँ प्रदूषण की शुद्धि के लिए कम से कम तीन प्रतिशत पूँजी अलग से रखी जाये अन्यथा आज की औद्योगिक प्रगति कल एक भयंकर संकट बनकर सामने आयेगी।

“शो डाउन फार वाटर” नामक जल प्रदूषण (वाटर पॉल्यूशन) पुस्तिका में अमेरिका ने इस समस्या को अत्यंत जटिल, परेशान करने वाली वर्तमान—अस्त्र-शस्त्रों से भी भयंकर बताया है और लिखा है कि उस समस्या के हल के लिए किये जा रहे प्रयत्नों से कई गुना वह और भी जटिल होती जा रही है। अमेरिका ने १६६५ और १६६६ में ऐसे कानून भी बनाये हैं, पर विज्ञान और भारी उद्योगों के विकास के पागलपन के आगे लाखों को मारने और करोड़ों को बीमार बनाने वाली इस मामूली सी समस्या पर कौन ध्यान दे ? कौन सोचे ?

इंग्लैंड में साबुन, फिनाइल, डी. डी. टी. और केवल कीटाणु नाशक औषधियों के निर्माण के कारण ४५० करोड़ गैलन पानी दूषित कर दिया जाता है, यही पानी बाद में घरों में इस्तेमाल किया जाता है। यही जल जब समुद्र में पहुँचता है तो उसमें से झाग उठने लगते हैं, उसे देखकर कोई भी अनुमान कर सकता है कि यह जल था या केवल मात्र गंदगी बहकर आई। अमेरिका में इंग्लैंड से चार गुना अधिक जल नागरिक प्रयोग में आता है। कम-ज्यादा संसार के सभी देश ऐसी गंदगी निकालते हैं, यह सारी ही समुद्र में जाती है। अमेरिका अपने यहाँ की रही समुद्र में झोंक रहा है। कुछ ही दिन पूर्व उसने ७४४० प्राण धातक नर्व गैसों के पैकेट भर-भर फ्लोरिडा के पास समुद्र में फेंके थे। यह प्रदूषण जहाँ जल ऑक्सीजन नष्ट करता है, वहाँ समुद्र का संतुलन बनाये रखने वाले जीव-जंतुओं और पौधों को भी मारता है, उससे समुद्र की शोभा नष्ट होने की हानि उतनी गंभीर नहीं जितनी उसके अमर्यादित होने की, अगले दिनों समुद्र के भीषण उत्पात मनुष्य जाति को तंग कर सकते हैं। गंदगी मिले जल की भाष्ट भी दूषित होगी, भेघ दूषित होंगे, तब फिर जो वर्षा होगी, वह रोगों की वर्षा होगी, उसका प्रभाव सीधे भी मनुष्य जाति के स्वास्थ्य पर पड़ेगा और फसलों के द्वारा भी।

जल प्रदूषण के कुछ भयंकर दुष्परिणाम—टोरी केन्यन नामक एक तेल वाहक समुद्री जहाज ब्रिटेन के पास से गुजर रहा था। ९८ मार्च, १९६७ के दिन जहाज दुर्घटनाग्रस्त हो गया और उसका ३०००० टन तेल समुद्र में गिर गया और देखते-देखते ९८ मील क्षेत्र में फैल गया। हवा के झोंकों और समुद्री तरंगों के कारण शीघ्र ही वह १०० वर्ग मील क्षेत्र को प्रभावित करने लगा। वही दूषित जल कुछ दिन बाद फ्रांस के तट तक पहुँचा। अब मौतें प्रारंभ होती हैं। अप्रैल १९७० में अलास्का तट (अमेरिका) के पास जल प्रदूषण से हजारों पक्षी, समुद्री सिंह और ढेल मछलियाँ मरी पाई गईं।

४०० सीलों का झुंड इस तेल-प्रदूषण की चपेट में आकर जान गँवा बैठा। हजारों समुद्री वृक्ष नष्ट हो गये।

दिल्ली में दस से भी अधिक गंदे नाले यमुना नदी में गिरते हैं। कुछ दिन पूर्व वजीरावाद और ओखला के बीच हजारों मछलियाँ इस गंदगी से मरी पाई गईं। इन मछलियों का व्यावसायिक मूल्य ६ लाख रुपया आँका गया। १९५६ में जल की समस्या गंभीर हो गई। सारी दिल्ली में पीलिया रोग ने भयंकर रूप धारण किया। सन् १९७० में भयंकर पीलिया होते-होते बचा उसके बाद माडल टाउन के पीछे झील में हजारों मछलियाँ मरी पाई गईं। उनकी सड़न एक समस्या बन गई। गंगाजी के तट पर बसे मुंगेर (बिहार) में पेट्रोल के गंगा नदी में बह जाने के कारण गंगाजी के जल में ५० मील दूर तक आग लग गई। पानी में आग की लपटें उठने लगीं, लोग आश्चर्य और भय से इस कांड को देखते रहे।

यह सब इस बात के प्रमाण हैं कि मानवीय सभ्यता ने अपने जीवन के आधार जल को किस बुरी तरह दूषित किया है, उसके क्या दुष्परिणाम अब तक आगे आ गये हैं और भविष्य कितना अंधकारपूर्ण है। विनाश की इस कालीघटा को मात्र दर्शक के रूप में नहीं देखना चाहिए, अपितु दुर्बुद्धि के रावण की काल की पाटी से बँधे वरुण देव की मुकित (शुद्धि) के उपायों पर भी विचार करना चाहिए, अन्यथा उसके घातक दुष्परिणाम प्रस्तुत हो सकते हैं।

● फूँककर कदम रखने का समय

ओहियो अनुसंधान परिषद ने फ्लोराइड मिश्रित जल की खामियों को जन-साधारण के सामने प्रस्तुत किया है और अपने शोध निष्कर्षों को डेलीमेल—संडे डिस्पैच आदि पत्रों में छपाया है, जिसमें उसे प्रयुक्त न करने का परामर्श दिया गया है।

अमेरिका की कितनी ही स्वास्थ्य संस्थाओं का संयुक्त विरोध सरकार के तथा जनता के सामने प्रस्तुत किया गया था, जिसे उस

संयुक्त मोर्चे के अध्यक्ष जे. मेकफारलेन फोवर्स ने 'स्काट्स मैन' आदि पत्रों में विस्तारपूर्वक छपाया था। इस विरोध पत्र में फ्लोराइड भिक्षित जल की खामियाँ गिनाई गई थीं और कहा गया था कि उससे शोधन के नाम पर विषाक्तता का समावेश होता है।

न्यूवर्ग में फ्लोराइड सहित और किंगस्टन में उससे रहित पानी देकर उसके परिणामों की जाँच की गई। उसका विवरण "ऐनगिवन साइंस न्यूज" पत्रिका में छपा, जिसमें बताया गया कि इस रासायनिक जल से दाँतों की खराखियों और जोड़ों के दर्द की शिकायत उत्पन्न होती है।

वर्ल्ड हेल्थ आर्गानाइजेशन के जिनेवा कार्यालय से प्रकाशित एक बुलेटिन में क्लोरीन युक्त पानी के संबंध में कई ख्यातिनाम स्वास्थ्य विशेषज्ञों के लेख छपे हैं, जिनमें प्रायः सभी ने इस रासायनिक सम्मिश्रण का विरोध किया है। पक्ष समर्थन में तो केवल एक ही लेख है, फ्लोरिडा विश्वविद्यालय के रसायन प्रमुख ए० पी० ब्लैक का।

जल शोधन के लिए नगर पालिकाएँ अक्सर पानी में क्लोरीन मिलाती हैं। पानी में घोला हुआ यह सोडियम क्लोराइड एक तीव्र रसायन है, जो जल में पाये जाने वाले स्वाभाविक कैलशियम क्लोराइड की तुलना में ८५ गुना अधिक तीक्ष्ण है। शोधन के लिए प्रयुक्त किया गया वह रसायन एक मंद विष के रूप में पीने वालों के शरीर में प्रवेश करता और जमता चला जाता है। आरंभ में तो उसकी उतनी हानि प्रतीत नहीं होती, पर तीस-चालीस वर्ष बाद उसके दुष्परिणाम कई मंद और तीव्र रोगों के रूप में फूटने लगते हैं। इस तथ्य को समझते हुए स्वीडन, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैंड आदि ने इस सम्मिश्रण को बंद कर दिया है। अमेरिका के ५८० नगरों में भी इसे बंद कर दिया गया है।

वैज्ञानिक सफलताएँ भी अन्य सफलताओं की तरह तब दुर्भाग्यपूर्ण बन जाती हैं, जब वे अत्युत्साह एवं अहंकार उत्पन्न

करती हैं। कुछेक सफलताओं के कारण अपनी सर्वांगपूर्ण बुद्धिमत्ता का अभिमान किया जाने लगता है और यह भुला दिया जाता है कि, कुछ काम की कुछ सीमा तक मिली सफलता का अर्थ यह नहीं है कि अपना हर चिंतन और हर प्रयास सही या सफल ही होगा। सफलता के लिए क्रिया ही काफी नहीं—सतर्कता भी आवश्यक है। भूल न होने पाये इस पक्ष को ध्यान में रखकर फूँक-फूँककर कदम बढ़ाने की नीति यदि छोड़ दी जाए और जल्दीबाजी में कुछ भी कर-गुजरा जाए तो ऐसे ही दुष्परिणाम सामने आ सकते हैं जैसे कि जल-शोधन संबंधी प्रयास की त्रुटि के संदर्भ में सामने आ रहे हैं।



चिल्लाइये मत, कान फट रहे हैं

*

वायु, जल, पृथ्वी में व्याप्त—प्रदूषण की तरह शोर भी पर्यावरण प्रदूषण में सम्मिलित हो गया है, शोर भी इनसे कम घातक नहीं। शरीर-विज्ञानियों के अनुसार शोर का मनुष्य के शरीर पर दुष्प्रभाव पड़ता है। कानों को तो क्षति पहुँचती ही है, अधिक तेज शोर से धमनियाँ सिकुड़ने लगती हैं, ब्लडप्रेशर बढ़ जाता है, श्वसन-क्रिया अनियमित हो सकती है, पाचनक्रिया गड़बड़ा जाती है। इससे आँतों पर असर होता है, कई हारमोनों के स्राव पर प्रतिकूल असर पड़ता है। पिट्यूटरी ग्रंथि, एड्रिनल कार्टेक्स, थायराइड ग्रंथि और जनन-ग्रंथियों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

अधिक तेज शोर से आँखों की ज्योति मंद पड़ती है, रात में देखने में कठिनाई होने लगती है। रंगों का भेद कर पाना मुश्किल हो जाता है और दूरी का तथा धरातल के ऊँचे-नीचे होने का अनुमान सही-सही लगा पाना कठिन हो जाता है।

शोर से थकान, उदासी और ऊब पैदा होती है, विचारों की शृंखला टूटती है, मस्तिष्क की विद्युत-तरंगों में गड़बड़ी होने लगती है। इससे हिंसा की भावना बल पकड़ सकती है। उत्तेजनापूर्ण जीवन की ओर झुकाव बढ़ सकता है।

मंद से मंद ध्वनि जो मनुष्य कानों से सुनी जा सकती है, उसे 'शून्य डेसीबेल' इकाई माना गया है। कानाफूसी की घुसफुस प्रायः १० से २० डेसीबेल तक की होती है। ७४० डेसीबिल की ध्वनि मनुष्य के कान के पर्दे फाड़ सकती है और उसे बहरा कर सकती है, ७५० पर तो शरीर में भारी विक्षोभ उत्पन्न हो सकता है और मृत्यु तक हो सकती है। यों शरीर छू को ही अस्वृद्ध मानकर, उसके विरुद्ध विद्रोह करने लगता है। तेज शोर के बीच रहने वाले

लोगों की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति मंद या तीव्र रोगों की ओर बढ़ती जाती है।

हवाई जहाज इतना शोर करते हैं कि यदि १०० फीट दूरी से उनकी आवाज सुनी जाए तो सिर चकराने लगेगा है। हवाई जहाजों के भीतर बैठे यात्रियों और चालकों को यह शोर कष्ट न दे इसलिए भीतर ध्वनि अवरोधक यंत्र लगे होते हैं, पर बाहर आकाश में तो वह शोर होता ही है। इस ध्वनि का प्राणियों पर क्या प्रभाव होता है ? यह जाँचने के लिए गिनीपिंग चूहों को जेट इंजन के शोर में रखा गया। कुछ ही मिनट में वे सब मर गये। तेज ध्वनियों का मानव शरीर पर बुरा असर पड़ता है, यह भली प्रकार अनुभव कर लिया गया है। विज्ञानियों ने अब इतनी तीव्र ध्वनियों का आविष्कार कर लिया कि उनके शोर मात्र से बारूद या पेट्रोल की तरह देखते-देखते भयंकर अग्निकांड हो सकता है।

आस्ट्रिया के ध्वनि विज्ञानी डॉ. ग्रिफिथ का कथन है कि कोलाहल में रहने वाले अपेक्षाकृत अधिक जल्दी बूढ़े होते हैं। इंग्लैंड की स्वास्थ्य रिपोर्ट में शोर वाले क्षेत्र में एक चौथाई लोगों को न्यूरोसिस, सनक की मस्तिष्कीय विकृति से ग्रस्त पाया गया। अमेरिका के आवाज करने वाले कारखानों में एक चौथाई श्रमिकों के कान अपनी स्वाभाविक क्षमता गँवाते चले जा रहे हैं।

सुपर कनकार्ड लड़ाकू विमानों की दहलाने वाली आवाज ने केन्योन की ऐतिहासिक गुफाओं में दरारें डाल दीं। ब्रिटेन और फ्रांस के सहयोग से बने कनकार्ड जेट ने लंदन के सेंटपाल गिरजाघर और पार्लियामेंट भवन तक के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया था। फलतः उस क्षेत्र में उसके उड़ने पर प्रतिबंध लगाया गया। डॉक्टरों ने उस विमान की भयंकर आवाज के संबंध में यह भी चेतावनी दी थी कि उसकी उड़ान मार्ग के ईर्द-गिर्द १०० मील तक के हृदय रोगियों का जीवन संकट में पड़ जायेगा।

मनुष्य के कान २५-३० डेसीबेल तक की आवाज को सहन कर सकते हैं। इससे अधिक कोलाहल जहाँ भी होगा, वहाँ कान के जरिए अवांछनीय तनाव मस्तिष्क पर पड़ेगा और फिर वह उत्तेजना शरीर के विभिन्न अवयवों पर बुरा असर डालेगी। सेनफ्रांसिस्को के कैलीफोर्निया मेडीकल कालेज द्वारा ध्वनि-प्रवाह के विभिन्न परिणामों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है—विषेली जलवायु की तरह ही कोलाहलयुक्त वातावरण भी स्वास्थ्य पर धातक प्रभाव डालता है।

सन् १९६६ में रूस के गोर्की नगर में अनभ्यस्त शोर का प्रभाव पशुओं पर क्या पड़ता है ? इसका परीक्षण किया गया तो यही पाया गया कि कर्कश ध्वनियों को सुनने के कारण अपनी सामान्य दिनचर्या छोड़ बैठते हैं और उद्धिग्न रहने लगते हैं। उनकी कार्यक्षमता घट जाती है और अस्वस्थता आ घेरती है। पालतू पक्षी भी शोर से घबराते हैं। जो पालतू नहीं हैं वे कोलाहल से हटकर अन्यत्र अपने घोंसले बनाने की तैयारी करते हैं।

'टैक्सास के एक शोध-संस्थान 'कैलियर हीयरिंग एंड स्पीच सेंटर' द्वारा की गई ध्वनि-प्रतिक्रिया शोध का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए उसके निर्देशक डॉ. ग्लोरिंग डलास ने बताया कि अधिक शोर करने वाले कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों में से अधिकांश को आंशिक बहरापन आ घेरता है। साथ ही उनकी कार्यक्षमता एवं सहनशीलता घट जाती है। चैकोस्लोवाकिया में शोर करने वाले और शोर रहित व्यवस्था वाले कारखानों की उत्पादन शक्ति का लेखा-जोखा लिया गया तो प्रतीत हुआ कि शांति के वातावरण में शारीरिक और मानसिक श्रम कहीं अधिक मात्रा में संभव हो सकता है।

हारवर्ड विश्वविद्यालय के प्रो० बैरोल विलियम्स ने सुविस्तृत क्षेत्र में दीर्घकालीन पर्यवेक्षण करके, यह निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य की जीवन शक्ति को नष्ट करने और उसे अकाल मृत्यु का

ग्रास बनने के लिए बाध्य करने में कोलाहल का बहुत बड़ा हाथ है। बड़े शहरों में सड़क के किनारे बने हुए घरों में जो लोग रहते हैं, दौड़ती हुई मोटरों की आवाज उनके मस्तिष्क को क्षुब्ध करती रहती है। फलतः अन्य मुहल्लों में रहने वालों की अपेक्षा वे अनिद्रा, घबराहट, धड़कन, बघिरता, रक्त चाप, अपच जैसे रोगों से कहीं अधिक अनुपात में बीमार पड़ते हैं।

जार्जिया विश्वविद्यालय के डॉ० विलियम एफ० गेबर ने चूहों को कोलाहल भरे वातावरण में रखकर देखा तो वे दिन-दिन दुबले होते गये और उन दिनों गर्भ में आए लगभग सभी बच्चे किसी बीमारी से ग्रसित एवं अविकसित अंग लेकर जन्मे पाये गये।

ओहियो के शरीरशास्त्री लीस्टर डब्ल्यू० सानतांग ने गर्भवती महिलाओं में से जो शोरग्रस्त क्षेत्र में रहने वाली थीं, उन्हें दुर्बल और रुग्ण संतान को जन्म देने वाली पाया।

सन् १९६३ में लेनिनग्राड के निकटवर्ती क्षेत्र में बुलडोजरों की सहायता से ऊबड़-खाबड़ जमीन साफ की गई। इन दैत्याकार यंत्रों का प्रभाव समीप के मुर्गी फार्मों पर बहुत बुरा पड़ा। इन पक्षियों के पंख इस बुरी तरह झड़े कि वे विचित्र तरह के कुरुलप हो गये। उदास रहने लगे और अंडे देना रुक गया। अस्त्व शोर से मुर्गियाँ घबराने लगीं और उनकी सामान्य दिनचर्या अस्त-व्यस्त हो गई।

डॉ० फेचनर ने ४० वर्ष तक ध्वनियों का गहन अध्ययन किया और यह पाया कि अब जो शोर बढ़ रहा है, उससे उत्तेजना बढ़ती है और शरीर के कोमलतम तंतुओं पर तीक्ष्ण प्रभाव पड़ता है। ध्वनि के उत्तेजत्व को उन्होंने 'डेसीबिल' नाम की इकाई बनाकर नापा भी और यह बताया कि शांत सड़कों में २५-३० डेसीबिल उत्तेजत्व रहता है, शोरयुक्त सड़कों में ७०-८० डेसीबिल। मोटरगाड़ियों में ब्रेक लगाने की ध्वनि से ७६, ध्वनि निरोधक यंत्र से सज्जित मोटर-साइकिलों से ६० और ऐसी ही मोटरों से १२०

डेसीबिल शोर का प्रभाव श्रवण प्रणाली पर पड़ता है, उससे मस्तिष्क का विप्रांत और अशांत रहना तो आवश्यक है ही, यह भी सिद्ध हो चुका है कि १६० डेसीबिल वाले शोर के कारण कान का पर्दा तक फट सकता है। १२०-१३० डेसीबिल शोर से आंशिक और यदि कुछ दिन तक यह क्रम बराबर बना रहे तो व्यक्ति स्थायी रूप से भी बधिर हो सकता है। प्रत्येक अवस्था में ८०-१०० डेसीबिल से अधिक मात्रा का शोर श्रवण प्रणाली और मानसिक संवेदना के लिए घातक हो सकता है।

प्रसिद्ध मनोविज्ञान शास्त्री पास्कल का कथन है कि शोर श्रवण प्रणाली को ही नहीं प्रभावित करता, वरन् वह मस्तिष्क पर भी कुप्रभाव छोड़ता है, जिससे सारे शरीर पर दूषित तत्त्व सक्रिय हो उठते हैं। हमारी चिंतन-धारा में मुख्य बाधा भी यह शहरी शोर है, जिसके कारण मनुष्य अपने कल्याण की भी बात अच्छी तरह सोच नहीं पाता।

‘डेली टेलीग्राफ’ के संपादक ने सत्ताधारियों से पूछा है कि कुछ लोग कम समय में जेट विमान द्वारा जल्दी अटलांटिक पार कर लें, इस सुविधा के लिए करोड़ों लोगों की नींद जेट की भयंकर ध्वनि के कारण क्यों खिगड़ी जा रही है ?

अमेरिका में यांत्रिक विकास सबसे अधिक है। वहाँ के ४५ लाख कारखाना मजदूरों में से दस लाख के कान खराब पाये गये। इंग्लैंड में बड़े नगरों के सर्वेक्षण की रिपोर्ट है कि वहाँ एक तिहाई स्त्रियाँ और एक चौथाई पुरुष न्यूरोसिस (अर्ध-विक्षिप्तता) के शिकार बने हुए हैं। फ्रांस की औद्योगिक बस्तियों के पागलखाने बताते हैं कि हर पाँच पीछे एक पागल कोलाहल की उत्तेजना से अपना दिमाग खो बैठा है। पूरी निद्रा न ले सकने वाले जब तेज सवारियाँ चलाते हैं तो सड़क दुर्घटनाओं की संख्या में बेतरह अभिवृद्धि होती है।

साइंस डायजेस्ट के एक लेख में कुछ समय पूर्व बताया गया था कि कनाडा के मांट्रियल विश्वविद्यालय में शोर के प्रभाव का चूहों पर परीक्षण किया गया। कोलाहल में रहने के कारण उन सभी के स्नायु संस्थान गड़बड़ा गये। शोधकर्ताओं का कथन है कि ऐसे उत्तेजित वातावरण के कारण मनुष्यों को अक्सर, ग्रंथि-क्षय गुर्दे की खराबी, हृदय की धड़कन जैसी बीमारियाँ हो सकती हैं। कोलाहल से प्रभावित रोगियों की चिकित्सा में संलग्न डॉक्टर सेम्युएल रोजेन का कथन है "हम कोलाहल को क्षमा कर सकते हैं, पर कोलाहल हमें कभी क्षमा नहीं करता, उसके संपर्क में आकर हमें बहुत कुछ खोना पड़ता है।"

शोर विशेषज्ञ एस० रोजेन ने अपने विषय की शोध के सिलसिले में सूडान (अफ्रीका) का भी दौरा किया और वे 'माबान' कबीले के ऐसे लोगों के साथ रहे, जिन्हें गाजे-बाजे तक का शौक नहीं था और शांति प्रिय वातावरण में रहने के आदी थे, उनमें से एक भी रक्तचाप, हृदय रोग, अनिद्रा सरीखी बीमारियों का मरीज नहीं था। रूस के ८५० वर्षीय नागरिकों की इतनी श्रवण-शक्ति पाई गई जितनी कि औसत ६५० वर्षीय अमेरिकी की होती है। इसका कारण वातावरण में शोर की न्यूनाधिकता ही है। डॉ० रोजेन के प्रयोगों से शोर में रहने वाली चुहिया के बच्चे अधूरे और अस्त-व्यस्त जर्ने और चूहों में से ८० प्रतिशत नसों की ऐंठन के शिकार हो गये।

संसार में आजकल लगभग २० करोड़ से अधिक मोटरें दौड़ती हैं। ब्रिटेन के अर्थशास्त्री बार्वरा बार्ड का कथन है कि शहरों की असली निवासिनी यह कारे ही हैं और वे परमाणु बमों जितनी ही भयावह हैं, अंतर इतना ही है कि बम तुरंत मार डालते हैं और ये रगड़-रगड़ कर मारती हैं।

समय-समय पर कोलाहल की वृद्धि के खतरे के संबंध में अन्य विशेषज्ञ भी चेतावनी देते रहे हैं। कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय

के विज्ञान अधिकारी डॉक्टर बर्न उडसन ने कहा है कि जिस गति से आकाश में शौर बढ़ रहा है, उसी तरह बढ़ता रहा तो कुछ ही समय में संक्रामक और संघातक रोग के कारणों में एक और नया आधार 'शौर' जुड़ जायेगा, वह विषाक्त वायु की तरह ही प्राणघातक सिद्ध होगा। अमेरिका के चिकित्सक संघ के अधिकारी डॉक्टर गेराल्ड डोर मेन ने चेतावनी दी है कि—जहरीली गैसों की तरह ही कोलाहल हमारे वातावरण को विषाक्त करता चला जा रहा है। इससे जल, वायु, वनस्पति, जमीन और प्राणियों का खुरी तरह विनाश होगा। जीवाणुवेत्ता नोबल पुरस्कार विजेता डॉ० रावर्ट क्रोच ने कहा है कि अगले दिनों हमें स्वास्थ्य के निर्मम शत्रु 'कोलाहल' से भी जूझना पड़ेगा। उसे परास्त किये बिना मनुष्य का जीवन संकट में पड़ जायेगा। डॉक्टर रोस युएन, डॉक्टर मार्क्स जानसन, डॉक्टर लीस्टर सॉटांग प्रभृति वैज्ञानिकों ने भी ऐसी ही चेतावनियाँ दी हैं। मैफिक विश्वविद्यालय के शोधकर्मी जेम्स फ्लूगार्थ ने तो यहाँ तक कहा है कि शौर की वर्तमान अभिवृद्धि अगले दिनों बिधिरों की ऐसी पीढ़ी पैदा करेगी, जो तीस वर्ष के होते-होते आधी श्रवण शक्ति खो बैठेगी।

कोलाहल का अन्य प्राणियों पर क्या असर होता है ? इसका पता लगाने के लिए किये गये अनेक प्रयोगों में से एक कैलीफोर्निया की जीवन अनुसंधान संस्था द्वारा शार्क मछलियों पर किया गया था। संस्था के निर्देशक थियोब्राडन ने बताया कि पानी में लाउडस्पीकरों के द्वारा तेज आवाजें दौड़ाई गई तो मछलियाँ उसे सुनकर आतंकित और विक्षिप्त हो उठीं, वे एक-दूसरे को इसका कारण समझकर आपस में हमला करने लगीं और जब ध्वनि उन्हें असह्य हो गई तो चट्टानों से सिर पटक कर आत्महत्या कर दैठीं। ऐसे ही प्रयोग फ्रांसीसी कौलीनीशिया के गिरोजा एटौस में भी किये गये। उनका भी निष्कर्ष यही था कि जल जीव असाधारण कोलाहल के बीच सामान्य जीवन नहीं बिता सकते।

मोटरों की, कारखानों की, लाउडस्पीकरों की आवाजें शहरों को ऐसे शोरगुल से भरती जा रही हैं; जिसके परिणाम से, इंडियन 'कौंसिल ऑफ मैडीकल रिसर्च' के कथनानुसार, लोग धीरे-धीरे बहरे होते चले जाएँगे। उनके मस्तिष्क स्नायुविक और हृदय संबंधी रोग बढ़ सकते हैं।

यंत्रीकरण के कारण आज जन-जीवन में शोर का जो दबाव पड़ रहा है, उसकी वियना विश्वविद्यालय इटली के इंस्टीट्यूट ऑफ हाइजिन के प्रोफेसर टिजानो ने विस्तृत व्याख्या की है। शोर के प्राणिशास्त्रीय प्रभाव का उन्होंने बहुत आवश्यक विवेचन और लोगों को सावधान किया है कि यदि आज के यांत्रिक मनुष्य ने एकांत शांति की व्यवस्था न की तो उसका भावी प्रजा पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। बड़ी चिड़चिड़ी, क्रोधी, अशिष्ट, फूहड़ और दुराचारी आत्माएँ जन्म लेंगी या यों कह सकते हैं कि इस दुष्प्रभाव के कारण आने वाली पीढ़ी में दुर्गुणों का स्वयमेव विकास होता जायेगा।

उनका कहना है—“यही नहीं कि शोर केवल श्रवण यंत्रों को ही खराब करते हैं, वरन् मस्तिष्क जिससे सारे शरीर का क्रिया-व्यापार चलता है, प्रभावित होता है। उसका ही परिणाम है कि लोगों की कार्यक्षमता तेजी से घट रही है। स्नायुविक तनाव और रक्त-चाप बढ़ रहा है।”

उन्होंने कई औद्योगिक प्रतिष्ठानों के श्रमिकों का मानसिक अध्ययन किया और यह निष्कर्ष पाया कि मिल, कारखानों में काम करने वाला प्रत्येक मजदूर जब प्रातःकाल सोकर उठता है तो काम में कठिनाई अनुभव करता है। उसके कानों में २० मिनट तक भनभनाहट गूँजती रहती है। मानसिक और शारीरिक थकान अनुभव होती है। उसे लगता है मस्तिष्क में कुछ भर गया है। कुछ दिन में यद्यपि वह अभ्यास में आ जाता है, किंतु श्रवण प्रणाली को क्रमिक क्षति पहुँचती रहती है। मानसिक उद्वेग के कारण

पारिवारिक झंझट, क्लेश, चिंता और वासनाएँ भड़कती हैं। फिर वह शांति की खोज के लिए भटकता है, पर जो साधन हाथ लगते हैं, जैसे सिनेमा, शराब, संभोग वह और भी उसकी दुर्दशा करने वाले सिद्ध होते हैं।

जिन शहरों में यांत्रिक शौर की अधिकता होती है, वहाँ श्रवण-शक्ति की कमजोरी और इस तरह से व्यग्र व्यक्तियों की अधिकता होती है। वहाँ अपराध भी बहुत अधिक होते हैं, क्योंकि आत्मशांति के लिए जिस कोलाहल से उन्मुक्त वातावरण की आवश्यकता होती है, वह उन्हें बिल्कुल नहीं मिल पाता। कुछ बड़े आदमियों के बँगले और बगीचे ऐसे होते हैं कि वे कुछ समय एकांत का लाभ पा लेते हैं और अपनी कार्यक्षमता और स्नायविक तेजस्विता को बनाये रखते हैं, पर मानसिक प्रभाव से वे भी मुक्त नहीं रह सकते, क्योंकि ध्वनि-तरंगों की तरह यह शोरगुल भी महापुरुषों के मुख-मंडल पर व्याप्त औरा की तरह उस शहर के बाहरी क्षेत्र तक को भी कई-कई मील तक प्रभावित किये रहता है।

ऐसी अवस्था में उस युग की याद आती है, जब लोगों की जीवन व्यवस्था ऐसी रहती थी कि कुछ समय एकांत सेवन के लिए निकल आता था। ऐसे पीठ-संस्थान तथा क्षेत्र होते थे, जहाँ जाकर लोग कम से कम जीवन के अंतिम चरण में तो मुक्त चिंतन और आत्म-शांति पाते थे। आज उसकी सर्वाधिक आवश्यकता अनुभव हो रही है। विद्यालय और शिक्षण-संस्थानों को तो शहर से हटाकर वन्य-प्रदेशों में रखना ही चाहिए। साथ ही कुछ क्षण निकाल कर ऐसे स्थानों की यात्रा भी करनी चाहिए, जहाँ कुछ समय मानसिक शांति पाई जा सके। तीर्थयात्रा का यह महत्व अब पहले की अपेक्षा बहुत अधिक है, यदि ऐसे सुरम्य और सुरक्षित एकांत स्थान उपलब्ध हो सकें।

ऐसे स्थानों में हिमालय के उत्तराखण्ड भाग का महत्व सर्वाधिक है। वह आदिकाल से भारतवर्ष की साधना स्थली रही है।

ऋषि-महर्षियों से लेकर अनेक साधु वानप्रस्थों ने यहाँ आकर तपस्याएँ की और साधना के तेजस्वी कण बिखेरे। उनका लाभ वहाँ पहुँचने वाले को अनायास ही मिल जाता है।

प्राकृतिक दृष्टि से यह स्थान अत्यंत शीतल, सुरम्य और मनोहर दृश्यों से परिपूर्ण है। यही एक स्थान ऐसा शेष बचा है, जो अभी तक जन कोलाहल से पर्याप्त अंश में बचा हुआ है। दूसरे वहाँ पर उठने वाली युग-युगांतरों की प्रबल आध्यात्मिकता की विचार तरंगें, इतनी शक्तिशाली हैं कि वे बाहर से पहुँचने वाले शोर और ध्वनि-तरंगों को दबा देती हैं और अपने प्रभाव को बनाये रखती हैं। यही कारण है कि यहाँ मानव मन को असीम शांति मिलती है।

वातावरण का कोलाहल असंदिग्ध रूप से मनुष्य के लिए अत्यंत हानिकारक है। उसमें निवास करते हुए मात्र पौष्टिक आहार-विहार के अथवा दवादारु के आधार पर सामान्य स्वास्थ्य संरक्षण भी संभव नहीं हो सकता है। जिन्हें धन ही सब कुछ प्रतीत होता है, वे भले ही घने शहरों में या गहरे समुद्रों में रहें, पर जिन्हें जीवन की समस्वरता से प्यार है, उन्हें अपना निवास प्रकृति के सान्निध्य में शांत वातावरण में व्यतीत करना चाहिए। कोलाहल किसी को सह्य अथवा प्रिय ही क्यों न प्रतीत होता हो, पर वस्तुतः उसकी विषाक्तता इतनी घातक है कि उसके दुष्परिणामों से बचा नहीं जा सकता।

ठीक इसी प्रकार मानसिक उद्विग्नता का बुरा प्रभाव भुगतना पड़ता है। चिंता, भय, आशंका, निराशा, क्रोध, आवेश, ईर्ष्या, ललक, लिप्सा का कोलाहल जिनके मन मस्तिष्क में निरंतर उद्विग्नता पैदा करता रहता है, उन्हें चैन की शांति और संतोष की सुखद घड़ियाँ कदाचित् ही मिल सकें। वातावरण का कोलाहल शरीर और मन को विक्षुब्ध करता है। चिंतन क्षेत्र का कोलाहल मनुष्य को एक प्रकार

से विक्षिप्त ही बनाकर रख देता है। ऐसा जीवन जीकर भला क्या कोई सुखी रह सकता है ?

इस बढ़ते हुए कोलाहल के विरुद्ध सजग जन-समाज द्वारा आवाज भी उठाई जा रही है। अमेरिका में जन स्तर पर इसके लिए आंदोलन भी खड़ा हुआ है। न्यूयार्क के कोलाहल निवारक आंदोलन के अध्यक्ष श्री एलेक्स वैरन का कथन है कि जनता को कोलाहल से होने वाली हानियों की यदि पूरी जानकारी मिल जाए तो वह सरकार पर वैसा ही दबाव डालेगी जैसा कि बुरे से बुरे संकट के निवारण के लिए डाला जाता है।

इस संकट से सरकारें भी परिचित हैं और वे उससे बचने के लिए कुछ उपकरण बनाने की, कुछ बंधन-प्रतिबंध लगाने की तैयारी कर रही हैं। कई देशों में ऐसा कुछ-कुछ हो भी रहा है। कितने ही देशों में जन-स्तर पर इसके लिए आंदोलन खड़े किए गए हैं और शोर करने वालों पर प्रतिबंध लगाने तथा सर्व साधारण को इस संदर्भ में प्रशिक्षित करने में यह आंदोलन अपने ढंग से कुछ-कुछ कर भी रहे हैं।

सरकारी स्तर, जन-स्तर पर कोलाहल के समाधान के लिए प्रयत्न होने ही चाहिए। पर साथ ही व्यक्तिगत रूप से भी इस संदर्भ में ध्यान दिया जाना चाहिए। हमें यह समझकर चलना चाहिए कि औद्योगिक प्रगति के नाम पर अंधाधुंध बढ़ते चले जा रहे कल-कारखानों की आगे वृद्धि ही होगी। संपन्नता के साथ-साथ मोटरें, रेलें भी बढ़ेंगी। छोटी मोटर बन जाने वाली से इन दिनों मोटरों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है। सिनेमा लाउडस्पीकर अपनी गतिविधियों कब कम करने वाले हैं। जनसंख्या की वृद्धि रुक नहीं रही है, फलतः कारखाने, यातायात के साथ यह भाग-दौड़ का बढ़ना भी स्वाभाविक है। अब उसका परिणाम कोलाहलों की अधिकाधिक वृद्धि के रूप में ही सामने आयेगा और आज के बड़े नगर कल सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए संकट बनकर उभरेंगे।

बढ़ती हुई आबादी अब बड़े शहरों की ओर भाग रही है। देखने में चुहल-चपाटा, मनोरंजन के साधन तथा सुविधा-सामग्री गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक है। वहाँ पैसा भी आसानी से और अधिक कमाया जा सकता है, उपभोग की आकर्षक वस्तुएँ भी वहाँ अधिक मिल जाती हैं। ऐसी सुविधाओं का गाँवों में अभाव अनुभव किया जाता है। अस्तु शहरों की, उनके आस-पास के इलाकों की आबादी हर जगह तेजी से बढ़ रही है। छोटे गाँव, कस्बे बन रहे हैं और कस्बे, शहरों में परिणत हो चले हैं। शहरों में खचाखच भरी हुई आबादी के निर्वाह एवं यातायात के लिए स्वभावतः कितने ही छोटे-बड़े कारखाने बनते हैं। बड़े उद्योगों की स्थापना भी उसी क्षेत्र में अधिक होती है। इस घिचपिच से कितनी ही ऐसी व्यवस्थाएँ चल पड़ती हैं, जो हवा और पानी जैसे जीवन धारण के लिए आवश्यक तत्त्वों को विषाक्त करती हैं। कोलाहल भी कम घातक नहीं है। इन सबका सम्मिश्रित परिणाम मनुष्य जाति के सामने भयंकर स्वास्थ्य संकट उत्पन्न करता चला जा रहा है। स्थिति यही बनी रही तो दम घुटने से एवं विषाक्त अन्न, जल के कारण दुर्बलता तथा रुग्णताजन्य विभीषिकाएँ मनुष्य को अकाल मृत्यु के मुख में धकेल देंगी।

परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए शहरों से पीछे हटकर देहातों में बसने की बात सोचनी चाहिए। अधिक कमाई, अधिक चमकीले चकाचौंध के आकर्षण में अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य गँवा बैठना न बुद्धिमानी है और न दूदरर्शिता।

प्राचीन काल में इस संकट को भली-भौंति समझा गया था, इसलिए उस जमाने में शिक्षण-संस्थाएँ, शोध-संस्थान, चिकित्सा केंद्र, साधना-स्थल, सुदूर देहातों में, एकांत एवं वन्य प्रदेशों में बनाये गये थे, जिसमें कोलाहलरहित वातावरण में शांत-संतुलित, स्वस्थ, सुखी और सुंदर जीवन जिया जा सके; हमारे लिए भी उसी राह को अपनाना श्रेयस्कर होगा।

रोगों की जड़ें काटी जायें, पत्ते नहीं

*

स्वास्थ्य संरक्षण का सीधा और सरल उपाय यह है कि आहार-विहार को संयत रखा जाये। मस्तिष्क को संतुलित रखा जाये और पाप-कर्मों से बचा जाये। सौम्य सरल और हँसी-खुशी का निर्मल-निश्छल जीवन निरोग भी रहता है और लंबी आयुष्य भी प्राप्त करता है। इसके विपरीत आचरण करने पर प्रकृति समुचित दंड देती है और प्रतिशोध लेती है, उसके कानूनों का, मर्यादाओं का उल्लंघन करके कोई चैन से नहीं बैठ सकता, बेदाग नहीं छूट सकता। दुर्बलता और अस्वस्थता वे दंड हैं, जो प्रकृति के नियमों को तोड़कर उच्छृंखलता की रीति-नीति अपनाने के कारण हमें बरबस भुगतने पड़ते हैं।

जिन्हें रोगों का भय है उन्हें चाहिए कि पहले से ही सावधानी बरतें और ऐसी रीति-नीति न अपनाएँ, जिससे बीमार होना पड़े। यह सुरक्षा बहुत ही सरल है। प्रकृति के संपर्क में रहने वाले पशु-पक्षी कहाँ बीमार पड़ते हैं ? बीमारी तो उद्भव आचरण करने वाले—और तरह-तरह की कृत्रिमताएँ अपनाने वाले मनुष्य के हिस्से में आई हैं अथवा उन निरीह पशु-पक्षियों को यह रुग्णता का उपहार मिला है, जो मनुष्य के पालतू बन गये हैं और जिन्हें अपनी परंपरा छोड़कर उसकी मर्जी पर निर्वाह करना पड़ रहा है।

रोग होने पर प्रकृति की सहायता के लिए उपवास, विश्राम, अधिक जल सेवन, स्वच्छता जैसी व्यवस्था बनानी चाहिए और औषधियों की जरूरत पड़े तो वनस्पतियों से विनिर्मित इस स्तर की लेनी चाहिए; जिनमें शामक गुण तो हों, पर मारक तत्व न हों। पर विज्ञान की उपलब्धियों के आवेश में प्रकृति को चुनौती देकर चिकित्सा की ऐसी अद्भुत प्रणाली अपनाई जा रही है, जो 'मर्ज को मारने के साथ मरीज को भी मारने' की उद्दित चरितार्थ कर रही

है। ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति में रोगाणुओं को मारने के लिए मारक एवं विषाक्त औषधियों का आविष्कार किया जा रहा है, जो तत्काल तो थोड़ा चमत्कार दिखा देती हैं और रोगी को लगता है कि तुरंत फायदा हुआ। पर उस थोड़ी देर के थोड़े लाभ के फलस्वरूप पीछे कितनी हानि उठानी पड़ती है और जीवनी शक्ति का कितना हास होता है, इसकी हानि का कुछ अनुमान नहीं लगाया जाता। कुनैन जैसी औषधियाँ तुरंत बुखार भगाने का चमत्कार दिखाती हैं, पर पीछे कान बहरे हो जाने जैसे अनेक ऐसे उपद्रव उठ खड़े होते हैं, जिनसे छुटकारा पाने में वर्षा लगते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान चिकित्सा पद्धतियों के गुण-दोषों का गहराई तक विवेचन किया जाये और रोग के सामयिक समाधान के साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाये कि उस जल्दबाजी में ऐसा तरीका न अपनाया जाये जो रोगी को आजीवन संकटग्रस्त बना दे। इस संदर्भ में ऐलोपैथिक चिकित्सा की उपयोगिता संदिग्ध होती चली जा रही है और उसी वर्ग के प्रख्यात चिकित्सक चौंका देने वाली आलोचना कर रहे हैं।

रसायन शास्त्र की शोध पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले डॉक्टर लुई पोलिंग ने केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में एक भाषण देते हुए कहा था—“मनुष्य के निरोधक और विधायक जीवाणु अपनी क्षति और आवश्यकता की पूर्ति स्वयं करते रहते हैं। यदि मनुष्य व्यसन और असंयम से बचते हुए प्राकृतिक जीवन जिये तो निस्संदेह लंबी और निरोग जिंदगी जी सकता है। तब न उसे रोगी बनना पड़ेगा, न चिकित्सा की जरूरत रहेगी।”

कर्निल यूनिवर्सिटी ऑफ अमेरिका में दीर्घजीवन संबंधी प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि यदि व्यक्ति अपने आहार की मात्रा घटा दे और सीधा-सादा सुपाच्य भोजन करे तथा संयमित दिनचर्या के साथ हँसी-खुशी की जिंदगी बिताये तो वह बिना अधिक प्रयत्न के लंबा और निरोग जीवन जी सकता है।

एकेडेमी ऑफ मेडीसिन के वैज्ञानिकों का एक संयुक्त वक्तव्य कुछ दिन पूर्व न्यूयार्क टाइम्स में छपा था, जिसमें कहा गया था कि—कम भोजन से नहीं, वरन् अधिकांश लोग अधिक भोजन करने के कारण बीमार पड़ते हैं। उत्तेजक पदार्थों का सेवन अस्वस्थता का सबसे बड़ा कारण है। यदि लोग सादा और सरल जीवन बिताएँ तो उन्हें तीन चौथाई बीमारियों से स्वयंभेव छुटकारा मिल जाये। साठ वर्ष से अधिक आयु के लोगों को बुढ़ापे के कारण जिन शारीरिक कष्टों से पीड़ित रहना पड़ता है उसका कारण वृद्धावस्था नहीं, वरन् पिछले दिनों का अनियमित एवं अव्यवस्थित जीवन ही मुख्य कारण होता है। स्विट्जरलैंड के प्रसिद्ध डॉ० कोरेज्जेस्की का कथन है—दलती आयु का कष्टकर होना युवावस्था के असंयम का परिणाम है, अन्यथा पके हुए फल की तरह वृद्धावस्था अधिक मधुर और सरस होनी चाहिए। ऑक्सफोर्ड और डब्लिन में स्वास्थ्य के रहस्य बताते हुए भी उन्होंने यही कहा—आवेशग्रस्त-अशांत मनोभूमि और उत्तेजक आहार ही हमारी आयु घटते जाने का एकमात्र कारण है।

लंदन टाइम्स के मतानुसार उस देश में पुरानी खाँसी, फेफड़े का कैंसर, हृदय रोग और मस्तिष्कीय तनाव की बीमारियाँ बहुत तेजी से बढ़ रही हैं, इसका कारण पौष्टिक पदार्थों का अभाव नहीं, वरन् कृत्रिम जीवन और दवाओं की बढ़ती हुई निर्भरता ही पाया गया है।

अमेरिका की फिशर साइंटिफिक कंपनी द्वारा प्रकाशित 'लेबोरेटरी' पत्रिका के लेख में विस्तार से यह बताया गया है कि बीमारों के शरीर में हानिकारक कीटाणु मात्र एक प्रतिशत होते हैं। उन्हें ही सब कुछ मानकर ६६ प्रतिशत स्वस्थ कीटाणुओं का लाभ लेने से इन मारक दवाओं के कारण वंचित हो जाना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

विश्व विख्यात सुप्रसिद्ध चिकित्सा विज्ञानी डॉक्टर जोशिया ओलफील्ड ने अपने ग्रंथ दुःख-दर्द पर चिकित्सा और विजय

(हीलिंग एंड कांक्वेस्ट ऑफ पेन) में लिखा है—ऐलोपैथिक पद्धति की अपेक्षा पुरानी चिकित्सा पद्धतियों का दृष्टिकोण तथा आधार अधिक स्पष्ट है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति से रोगों के लक्षण दबते, बदलते, पुराने होते और असाध्य बनते जाते हैं। इससे मात्र नई शोधों, नई दवाओं और नये सिद्धांतों को गढ़ने में माथा-पच्ची करने मात्र का द्वार खुलता है। रोग निरोध के नाम पर रक्त में नकली बीमारी पैदा कर दी जाती है, जिसे देखकर असली बीमारी के चले जाने का धोखा भर हो जाये।

अनेक रोगों के अनेक रोग कीटाणु पृथक्-पृथक् होते हैं और उनके निवारण के लिए पृथक्-पृथक् दवाएँ होनी चाहिए। आज के चिकित्सा शास्त्री यह मानकर चलते हैं, पर यदि गहराई से शोध की जाये तो पता चलेगा कि अपच एक ही रोग है और उसी की विकृतियाँ प्रकारांतर से भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के रोग-कीटाणुओं के रूप में दिखाई देतीं तथा बदलती रहती हैं। जीवाणु विशेषज्ञ डॉक्टर जे० ई० मेकडोनाफ ने बताया है—रोगों का मूल खोत आँतों में है। बिना पचा और विकृत आहार वहाँ पड़ा सड़ता रहता है और उस सड़न से उत्पन्न हुए कृमि अनेक प्रकार के रंग रूप आकार-प्रकार बदलते रहते हैं। वस्तुतः वे सब एक ही पेड़ के पृथक् दीखने वाले पत्ते मात्र हैं। अतएव पत्ते काटने की अपेक्षा रोगों की जड़ काटने की बात सोची जाए तो ही स्वास्थ्य रक्षा संभव होगी।

● औषधियों की दासता और उसके दुष्परिणाम

गैरहार्ड डोमाक ने सन् १६३२ में 'सल्फा ड्रग' जाति की औषधियों की एक शृंखला प्रस्तुत की। उन दिनों यह आविष्कार बहुत उपयोगी माना गया। इसके बाद भी उस दिशा में खोजें जारी रहीं और अधिक शक्तिशाली एंटीबायोटिक्स जाति की औषधियाँ सामने आईं।

एंटीबायोटिक्स जीवित कोषों में उत्पन्न होने वाले रासायनिक पदार्थ हैं, जो शरीर में घुसे हुए विषाणुओं का संहार करते हैं और बढ़ती हुई विपत्ति को रोकते हैं। इस वर्ग की औषधियाँ प्रायः सीजो माइटीस एक्टीनो, माइसीटीज मोल्ड जाति के पौधों से भी विनिर्मित होती हैं। इसी वर्ग की एक औषधि 'पेनिसिलीन' प्रकाश में आई। यह फॅफूदी से विनिर्मित होती है। इसके बाद इसी जाति की और भी प्रभावशाली औषधियाँ बनाई गईं। स्ट्रेप्टोमाइसीन, क्लोरोमाइसिटिन, टेट्रासाइक्लिन, ओरियामाइसीन, एक्रोमाइसीन, लीडमाइसीन, टेरामाइसीन, सिनरमाइसीन, टेट्रामाइसीन, होस्टाडसाइक्लिन आदि औषधियों का आविष्कार हुआ। यह विभिन्न जाति के विषाणुओं पर अपने-अपने प्रभाव दिखाने में बहुत प्रख्यात हुई हैं। इनका प्रयोग कई रूपों में होता है—केप्सूल, ड्राप्स, सिरप, टेबलेट, ट्राची, स्पर सायड मरहम सस्पेंसन, इंट्रामस्कुलर और इंट्रावेनस इंजेक्शन इनमें मुख्य हैं।

इन औषधियों के प्रयोग से जो कल्पनाम मचता है, उनसे रोग कीट मरते हैं और बीमारी का बढ़ा-चढ़ा उपद्रव घट जाता है। इस चमत्कारी लाभ से सभी प्रसन्न हैं। रोगी इसलिए कि उसका बढ़ा कष्ट घटा। डॉक्टर इसलिए कि उन्हें श्रेय मिला। विक्रेता इसलिए कि उन्हें धन मिला। निर्माता इसलिए कि उन्हें यश मिला। रोग भी प्रसन्न है कि हमारा कुछ नहीं बिगड़ा। हम जहाँ के तहाँ बने रहे और अपना विस्तार करने के लिए उन्मुक्त क्षेत्र पाते रहे। लाभ वस्तुतः रोग-कीटकों के मरने का नहीं, वरन् स्वस्थ कणों के दुर्बल हो जाने के कारण, जो संघर्ष चल रहा था, वह शिथिल पड़ जाने के कारण मिलता है। यह तत्काल का लाभ पीछे स्वास्थ की जड़ ही खोखली कर देता है। फलतः नित नये रोगों का घर रोगी का शरीर बन जाता है।

बी० सी० जी० के विशेषज्ञ डॉ० नोबेल इरविन ने अपनी पुस्तकें 'बी० सी० जी० वैक्सीनेशन थ्योरी एंड प्रेक्टिस' में इस

टीके से उत्पन्न होने वाली हानिकारक प्रतिक्रियाओं तथा उससे उत्पन्न होने वाली बीमारियों का विस्तारपूर्वक वर्णन और भंडाफोड़ किया है। उस पुस्तक के पढ़ने से उस माहात्म्य पर पानी फिर जाता है, जो इन दिनों बी. सी. जी. के टीके लगाकर तपैदिक की रोकथाम के बारे में बताये जाते हैं।

जो देश इन मारक औषधियों में जितने अग्रगामी हैं, वे स्वास्थ्य की दृष्टि से उतने ही दुर्बल होते जा रहे हैं। एक के बाद एक रोग की फसल उनके पूरे समाज में उगती-कटती रहती है। इंग्लैंड में इन दिनों खाँसी की फसल पूरे जोश पर है। यद्यपि उसकी निवारक औषधियों की भी भरमार है।

ब्रिटेन में खाँसी एक बहुप्रचलित रोग बन गया है। 'प्रेक्टिसनर' पत्रिका के अनुसार संसार का सबसे अधिक खाँसीग्रस्त देश ब्रिटेन है, जहाँ ब्रांकाइटिस के सभी अस्पतालों में सबसे अधिक इलाज कराने आते हैं। उस देश में दस लाख पीछे ५५६ व्यक्ति इसी रोग से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। बीमा कंपनियों को इस रोग के रोगियों को ७० लाख पौंड का भुगतान करना पड़ता है।

भोजन पचाने के लिए आमाशय से जो रस निकलते हैं, उन्हें एंजाइम्स कहा जाता है। यह कई प्रकार के होते हैं। इनमें पेप्सिन, ट्रिप्सिन, अमाइलेज आदि मुख्य हैं। जब इन खावों की कमी हो जाती है तो अपच की शिकायत पैदा होती है और गैस बनने लगती है। आँतों में कुछ खास किस्म के बेकटीरिया जीवाणु होते हैं, जो भोजन पचाने में सहायता करते हैं। लंबे समय तक ऐंटीबायोटिक दवाएँ खाने या दूसरे कारणों से जब इनमें कमी पड़ जाती है तो भी अपच के साथ-साथ गैस की शिकायत रहने लगती है। कई अन्य विषेश दृश्य या अदृश्य हुक बार्म, जियारडिया कीड़े भी पानी के साथ पेट में पहुँच जाते हैं और वहाँ कई प्रकार की गड़बड़ी पैदा करते हैं।

कार्बोहाइड्रेट पदार्थ का जब फर्मेटेशन ठीक प्रकार नहीं होता तो भी अपच की शिकायत रहने लगती है।

सिरदर्द क्यों होता है ? इसके मोटे कारण कितने ही गिनाये और बताये जाते हैं ? यथा—बदहजमी, रक्त-चाप, स्नायु-दौर्बल्य, मानसिक तनाव, चोट या व्रण, सर्दी-गर्मी का प्रकोप आदि। भूखे रहने, अधिक खाने, कम सोने, अधिक श्रम करने, नशेबाजी, भय, चिंता आशंका, क्रोध जैसे मनोविकार आदि। चिड़चिड़े, क्रोधी और आवेशग्रस्त व्यक्तियों को अक्सर सिर दर्द रहता है।

डॉक्टरों के पास इसके गिने-गिनाए उपचार हैं। बदहजमी, गैस बनने जैसे कारणों का अनुमान लगाकर कैस्टोफीन जैसी कोई हल्के जुलाब की दवा दे देते हैं। एस्प्रीन जैसी शामक औषधि से भी तत्काल कुछ राहत मिलती है। शरीर में 'हिस्टेमाइन' नामक विष की अधिकता हो जाने पर विषस्य विषमौषधम्' के सिद्धांतानुसार उसी विष को इंजेक्शन द्वारा और भी रक्त में प्रवेश करा देते हैं। यह सभी सामयिक उपचार हैं। तत्काल कुछ राहत मिल सकती है, पर जड़ कटने की आशा नहीं की जा सकती।

एक जर्मन औषधि निर्माता ने "थैलिडोमाइड" नामक अनिद्रा नाशक चमत्कारी औषधि बनाई। कुछ ही दिनों उसकी लोकप्रियता आकाश चूमने लगी, पर पीछे पता चला कि वह गर्भस्थ शिशुओं पर घातक असर डालती है। उसके कारण एक लाख से अधिक बच्चे जन्म से पूर्व अथवा जन्म के बाद काल के गाल में चले गये, जो बच गये अपंग होकर जिये।

पोलियो का इंजेक्शन बनाने के लिए टोरेंटो (कनाडा) यूनिवर्सिटी की प्रयोगशाला में लगभग ७८ हजार बंदरों का प्रयोग किया गया। उनके मूत्र पिंडों से डॉ. साल्फ द्वारा अनेक रासायनिक क्रियाओं द्वारा जो आविष्कार किया जाना था, उसका विज्ञापन तो बहुत हुआ, पर काम की चीज कुछ हाथ न लगी। इससे पहले

डॉ० लॅडस्टीनर और पोपर भी रक्त जल—सीरम द्वारा ऐसे ही प्रयोग कर चुके थे। इसके बाद घोड़े, चिपेजी और मुर्गी के बच्चे पर प्रयोग करके ऐसी चेष्टा की गई कि पोलियो का कोई कारगर इंजेक्शन निकल आवे। अगणित जीव हत्या के पश्चात् अंततः अब पोलियो ड्रॉप्स की खोज की जा सकी है।

डॉक्टर मेलविल कीथ की पुस्तक 'नरक जाने का सीधा रास्ता' पुस्तक में प्रमाणों सहित इस संभावना का प्रतिपादन किया है कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम अधिक अविकसित, पंगी, अंधी, गूँगी, बहरी, नपुंसक और विकृत-मस्तिष्क संतानें पैदा करते चले जाएँगे। सौ वर्ष बाद हमारे वंशजों की आकृति, प्रकृति और शारीरिक, मानसिक स्थिति कितनी भयावह होगी? आज हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, क्योंकि आज हम जो खाते-पीते हैं तथा जिस वायु में सौंस लेते हैं वह क्रमशः अधिकाधिक विषाक्त होती चली जा रही है।

इंग्लैंड में पागलखानों के अध्यक्ष डॉ० मार्टिन राथ ने डॉक्टरी संघ द्वारा प्रकाशित ब्रिटिश मेडीकल जर्नल में एक लेख लिखकर पागलपन संबंधी चिकित्सा में औषधि उपचार की असफलता स्वीकार करते हुए लिखा है—“पागलखानों में प्रायः ऐसे ही दिन काटने पड़ेंगे, क्योंकि हमारे पास उनकी बीमारी का कोई समुचित इलाज नहीं है।”

फ्रांस के डॉक्टर ई. वाल्टेर ने ऐलोपैथी के सबसे तेज विष—‘सबसे अच्छी दवा’ के सिद्धांत पर करारे व्यंग किये हैं। डॉ० डब्ल्यू० एच० छाइट के ऐलोपैथी चिकित्सा विज्ञान के मूलभूत सिद्धांतों को अपूर्ण और अनुमानों के आधार पर खड़ा किया गया बताया है। हीलिंग एंड कांक्वेस्ट आफ पेन’ के लेखक डॉ० जे० ओल्डफील्ड ने लिखा है—वर्तमान चिकित्सा विज्ञान अभी प्रयोग मात्र है। इसमें वैज्ञानिक अंधविश्वास जैसे तथ्य भरे पड़े हैं।

गर्ड हास्पिटल के चिकित्साधिकारी ने अपने कटु अनुभवों का निष्कर्ष बताते हुए लिखा है—रोगियों में से ६७ प्रतिशत का निदान गलत होता है और उसकी चिकित्सा ऐसे ही अनुमान के आधार पर चलती रहती है। मरे हुए रोगियों का शवच्छेद करने से जो पता चलता है, उनमें से कितने ही ऐसे हैं, जिनके रोग तथा कारण को ठीक तरह समझा ही नहीं जा सका और वे बेचारे गलत इलाज के शिकार बन गये।

लंदन के संडे पिक्टोरियल में ‘छुरी से दुखी’ शीर्षक से संसार प्रसिद्ध सर्जन के दुखपूर्ण अनुभव छपे हैं कि उसने नासमझी में कितने गलत आपरेशन किये और उनसे कितनों को कितनी हानि उठानी पड़ी।

अमेरिका की चिकित्सा पत्रिका ‘जनरल ऑफ अमेरिकन ओस्टियोपैथिक एसोसियेशन’ में छपे एक विवरण में कहा गया है कि सर्जनों के द्वारा बेकार या रुग्ण समझकर, काटकर निकाल दिये गये अंगों में से २० हजार टुकड़ों को विशेषज्ञों द्वारा जाँचा गया तो पता चला कि इनमें अधिकांश अंग निरोग थे और उन्हें काटने की जरूरत नहीं थी।

अमेरिकन कालेज ऑफ सर्जन के डायरेक्टर डॉ० पाल हाली का कथन है कि आजकल जितने आपरेशन होते हैं, उनमें से अधिकांश अकुशल डॉक्टरों द्वारा अनुमान मात्र के आधार पर किये हुए होते हैं। इससे रोगियों के हित की अपेक्षा अहित ही अधिक होता है।

‘लॉसेट’ पत्रिका में एक बार मरने वाले डॉक्टरों की आय के संबंध में एक शोध का निष्कर्ष लंबी तालिका के रूप में छपा है, उससे पता चलता है कि डॉक्टरों की औसत उम्र पचास से भी नीचे रह जाती है, जबकि अन्य धंधे करने वाले लोग इससे कहीं अधिक जीवित रहते हैं। जो स्वयं अपना इलाज नहीं कर पा रहे, जिनकी चिकित्सा-पद्धति एवं दवाएँ स्वयं के लिए उपयोगी सिद्ध न

हो सकीं, वे भला दूसरों का क्या लाभ कर सकेंगे ? इन तथ्यों को देखते हुए यही उचित है कि हम दवाओं के अंधे भक्त न बनें और डॉक्टरों की केवल आवश्यक सहायता ही उपलब्ध करें।

इंग्लैंड के स्वास्थ्य विशेषज्ञ जानमेलन गुड ने लिखा है—‘दुर्भिक्ष, युद्ध, महामारी और प्रकृति कोप से जितने लोग मरते हैं, गलत चिकित्सा के कारण उससे अधिक लोग मरा करते हैं।’ असंयम के कारण जितने लोग बीमार पड़ते हैं, उससे ज्यादा बीमारियाँ दवाएँ खाते रहने के कारण उत्पन्न होती हैं।

पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के अनुभवी विशेषज्ञों में से डॉक्टर हिक्सन ने (रिवोल्ट अगेन्स्ट डॉक्टर्स) डॉक्टरों के विरोध में और डॉक्टर नार्मन टार्नवा ने (मेडीकल एंड क्राइम) ‘डॉक्टरी अंधेर और पाप’, पुस्तकों में वर्तमान चिकित्सा-पद्धति के दोषों को अधिक विस्तार के साथ बताया है। इस संदर्भ में और भी बहुत कुछ कहा गया है, जिससे औषधियों की अंधी गुलामी से हमें छुटकारा पाने के लिए सचेत होना चाहिए।

तत्काल चमत्कार दिखाने वाली दवाओं के कुछ ही समय बाद दिखाई पड़ने लगने वाले दुष्परिणामों के बारे में कितने ही शोध-संस्थानों ने स्पष्ट चेतावनी दी है। उनका कथन है कि स्टैप्टो माइसिन की प्रतिक्रिया मनुष्य की दृष्टि और श्रवण शक्ति को मंद एवं समाप्त कर सकती है। पेन्सलीन के खतरनाक परिणाम आये दिन देखने को मिलते रहते हैं। क्लोरंपेनिकोल से अस्थि-क्षय और रक्ताल्पता की नई शुरुआत होती देखी गई है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध डॉक्टर नारमन वार्नसली एम० डी० ने एक बड़ी पुस्तक ‘डॉक्टरी अंधेर और पाप’ नामक पुस्तक में ऐसे अगणित प्रसंगों का उल्लेख किया है, जिनसे प्रतीत होता है कि ऐलोपैथी का चिकित्सा विज्ञान अभी बाल कक्षा में ही पढ़ रहा है, उसकी स्थिति अभी ऐसी नहीं है, जिसका अंधाधुंध और जोखिम भरा प्रयोग किया जा सके।

● सतर्कता आवश्यक

महात्मा गाँधी ने एक स्थान पर लिखा है—“अस्पतालों में मुझे पाप की झाँकी होती है। शरीर की खोटी सेवा के लिए हर साल लाखों जीवों की नृशंस हत्या होती है। आधार चाहे विज्ञान ही क्यों न हो ? कोई उदात्त दृष्टिकोण वाला यह पसंद न करेगा कि एक जीव को थोड़ी सुविधा पहुँचाने के नाम पर निरीह और अबोध जीवों की इस प्रकार हत्या की जाए।

न्यूजीलैंड के रेडियो विज्ञान से चिकित्सा करने में निष्ठावान् डॉक्टर उलरिक विलियम ने लिखा है—“आधुनिक चिकित्सा विज्ञान और कुछ नहीं केवल नई बीमारी को पुरानी में बदल देने का—एक को दूसरी में परिणत कर देने का गोरख धंघा है। नासमझी के कारण भोले लोग इस जाल में फँस जाते हैं और क्षणिक लाभ का चमत्कार पाने के लालच में विरस्थायी बीमारियों के शिकार बन जाते हैं।”

वर्तमान चिकित्सा पद्धति की अपूर्णता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए डॉक्टर फीलिंग लिखते हैं—हम डॉक्टरों में से अधिकांश अपनी-अपनी बीमारियों में फँसे हैं। हमारे बाल-बच्चे और मित्र-संबंधी बीमारियों से कराहते रहते हैं और यदि वर्तमान चिकित्सा विज्ञान सही और निश्चित रहा होता तो हम लोग अपनी रुग्णताओं से जरूर छुटकारा प्राप्त कर लेते।

डॉक्टर विलियम हार्वर्ड का कथन है—“एक ही रोग के निदान में डॉक्टरों की विभिन्न सम्मतियाँ पाई जाती हैं और वे इलाज भी अलग-अलग तजवीज से करते हैं, इससे यह स्पष्ट है अभी किसी रोग के संबंध में अथवा उसकी चिकित्सा के संबंध में कोई निश्चित सिद्धांत निर्धारित नहीं किये जा सके। वस्तुतः हम सब लोग अँधेरे में भटक रहे हैं और रोगियों पर प्रयोग मात्र करके काम चला रहे हैं।”

लंदन के चिकित्साशास्त्री ईवांस ने लिखा है—“हमारा व्यवसाय जिस स्थिति में है, उसे अनिश्चित और असंतोषजनक ही कह सकते हैं। उसके मूल सिद्धांतों में भारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है।”

प्रसिद्ध फ्रांसीसी शरीर शास्त्रवेत्ता डॉ० मेजाडी का कथन है—“यों हमें चिकित्साशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में गिनते हैं, पर उसमें विज्ञान जैसी कोई बात नहीं है। विज्ञान में कुछ सिद्धांत निश्चित होते हैं, उनके परिणाम भी निश्चित रहते हैं, पर चिकित्सा के संबंध में ऐसा कुछ भी नहीं है। अभी तो सब कुछ अनुमान, कल्पना और प्रयोगों की अनिश्चित स्थिति में ही चल रहा है।”

दक्षिण अमेरिका के ब्राजील राज्य में भोर्टलीजा नगर में एक नवीन आविष्कृत इंजेक्शन के प्रभाव से देखते-देखते २२ व्यक्ति मर गये। इसी नगर में पागल कुत्तों के काटने के इलाज के लिए बने टीके से लगभग १०० व्यक्तियों की मौत हो गई। जो मरने से बच गये वे पागलों जैसी स्थिति में जा पहुँचे। सरकार ने इस दवा को रेडियो द्वारा हानिकारक घोषित किया और उसके प्रयोग पर प्रतिबंध लगाया।

अमेरिका में ‘डाइएथिलीन ग्लाइकोज’ नामक दवा ने १०० से भी अधिक आदमी मार डाले, तब सरकार ने ‘फेडरल फूड, ड्रग एंड कॉस्मेटिक एक्ट’ बनाया और इस तरह के नुस्खों पर रोक लगाई गई। फ्रांस में ‘डाइ आयडोएथिल’ नामक दवा के सेवन से एकत्रित सबूतों के अनुसार १०२ आदमी मरे, तब उसे भी रोका गया। अमेरिका में कैंसर की दवा ‘कैविओ जेन’ को जब हानिकारक पाया, तब उसका लाइसेंस रद्द किया गया।

पिछली बार फ्लू का जब व्यापक फैलाव हुआ, तब उसके लिए एक नये निरोधक टीके का आविष्कार हुआ और उसका तेजी से निर्माण भी हुआ और प्रयोग भी। इसकी प्रतिक्रिया जाँचने के लिए जो कोई बैठा, उसके विशेषज्ञों की एक मीटिंग सेनफ्रान्सिस्को

में हुई। बोर्ड के अधिकारी डॉक्टर रोजेन ने कहा कि—“फ्लू से जितने लोग मरेंगे उससे ज्यादा इस टीके के कारण मर जाएँगे।” संस्था के अध्यक्ष ने स्पष्ट शब्दों में कहा—“इस टीके का अंधाधुंध प्रयोग एक प्रकार से उन्मादियों जैसी करतूत है। इसी की पुष्टि में जनरल ऑफ अमेरिकन मेडीकल ऐसोसियेशन ने भी डॉक्टरों को चेतावनी दी कि इसके अंधाधुंध प्रयोग से जनता पर हानिकारक प्रतिक्रिया की ही अधिक संभावना है।”

एस्पिरिन और पेन्सलिन का इन दिनों जो अंधाधुंध व्यवहार किया जा रहा है, उसके परिणामों से ब्रिटिश मेडीकल ऐसोसियेशन के सदस्यों ने चिंता व्यक्त की है। डॉक्टर हेचिन्स ने तो झल्लाकर यहाँ तक कहा है—“नित नये नामों से निकलने वाली इन अवांछनीय दवाओं के रोकने के लिए क्या कुछ नहीं किया जा सकता।”

इसे एक दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि रोग निवारण की धुरी अब मारक औषधियों के साथ जुड़ गई है, जबकि प्रत्येक ईमानदार चिकित्सक का कार्य यह होना चाहिए कि रोगी को अप्राकृतिक गतिविधियों से विरत होने और सरल-सौम्य जीवनयापन करने की प्रक्रिया अपनाने के लिए जोर दें और उसे समझाएँ कि स्थायी रूप से रोग से मुक्ति पा सकना, इतना परिवर्तन किये बिना संभव हो ही नहीं सकता।

एक रोग हल्का करने के लिए दस नये रोग आमंत्रित करना, एक समय का कष्ट घटाने के लिए सदा के लिए चिरस्थायी रुग्णता को शरीर में प्रश्रय देना यदि बुद्धिमत्ता हो तो ही मारक औषधियों की प्रशंसा की जा सकती है। यदि शरीर को समर्थ बनाने एवं शुद्ध रक्त की नाड़ियों में अभिवृद्धि करके निरोगिता एवं दीर्घ जीवन अभीष्ट हो तो चिकित्सा विज्ञानियों को एंटीबायोटिक्स दवाओं के गुणगान करने की अपेक्षा सात्त्विक जीवन की गरिमा समझानी पड़ेगी और संयत आहार-विहार अपनाने के लिए

जन-मानस तैयार करना होगा। इस उलट-पुलट में बढ़े-चढ़े चिकित्सा विज्ञान को बढ़ा-चढ़ा अज्ञान मानकर चलना होगा और उसके नित नये विकास का जो उन्माद छाया है, उसे नियंत्रण में लाने की बात सोचनी पड़ेगी।

आज के चिकित्सा विज्ञान में ऐसे अनेक विषयों का समावेश है, जिनका विशेषज्ञ होने की दृष्टि से तो कुछ उपयोग भले ही हो, पर स्वास्थ्य रक्षा और स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए उनका सामान्यतः कुछ विशेष उपयोग नहीं है।

मैगनेटो थेरैपी, इलेक्ट्रो थेरैपी, थर्मो थेरैपी, रेडियो थेरैपी, बाइब्रोथेरैपी, थल्मोथेरैपी, एम्ब्रियोलाजी, फिजियोलाजिकल केमिस्ट्री, टाकिसकोलाजी, पैथोलाजिकल हिस्टालाजी, बैकटीरियालाजी, गायनोकोलाजी, बायोकेमिस्ट्री आदि इतने अधिक विषयों का डॉक्टरी शिक्षण में समावेश करने में शिक्षार्थी का मस्तिष्क उन्हीं उलझनों में फँसकर रह जाता है। वह प्रकृति के अनुसरण और सौम्य आहार-विहार की उपयोगिता एवं रीति जैसे सामान्य किंतु अति महत्वपूर्ण विषय को समझने से बंचित रह जाता है।

यह ठीक है कि सामूहिक टीका अभियान ने बच्चों को विभिन्न रोगों से बचाया। पर इससे एलर्जी की नई समस्या पैदा हो गई। शरीर में इन टीकों के प्रति अति संवेदनशीलता की प्रवृत्ति पैदा होने लगी।

डिप्थीरिया, कुकुरखाँसी, अधरंग टिटेनस, चेचक, प्लेग आदि संक्रामक रोगों में कभी आई है, लेकिन श्वांस तथा आंत्रीय संक्रमणों के लगभग १ अरब मामले अभी भी प्रतिवर्ष सामने आ रहे हैं। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अधिकांश देश लाक्षणिक रोगों की लपेट में हैं। इन्फ्लुएंजा, संक्रामक हैपेटाइट आदि से संबंधित प्रभावपूर्ण रोगों की दिशा में आज भी नई खोजों की जरूरत है।

“आस्ट्रेलियन साइंस न्यूजलैटर” नामक पत्रिका के अनुसार एस्पिरिन का अधिक प्रयोग गैस्ट्रिक अल्सर (पेट का फोड़ा) का कारण बनता है। इस रोग से ग्रस्त १७ रोगियों का अध्ययन किया गया। इन सभी ने एस्पिरिन को अत्यधिक मात्रा में सेवन किया था।

न्यू साउथ वेल्स के रायल न्यू कैसिल अस्पताल के जोन ड्यूगन ने पेट के फोड़े के ३५० रोगियों का अध्ययन किया, इनमें से ३४६ के रोग का कारण एस्पिरिन का अति सेवन पाया गया।

आमाशय-ग्रहणी के रक्त-खांब से पीड़ित ५६८ रोगियों में से २६ प्रतिशत एस्पिरिन दवाओं के नियमित प्रयोगकर्ता पाये गये।

दवाएँ जिन पदार्थों से बनती हैं, वे हमारे स्वास्थ्यविक खाद्य नहीं हैं। उनमें मानवी प्रकृति के प्रायः प्रतिकूल तत्त्व ही भरे रहते हैं। उत्तेजना उत्पन्न करने और अंधे हाथी की तरह अपनी तथा शत्रु की सेना दोनों को कुचल डालने की क्षमता भर उसमें होती है। आवश्यकतानुसार दवाओं के मारण मंत्र का प्रयोग इस मान्यता के साथ किया जा सकता है कि जहाँ उनसे रोगांश मरेगा, वहाँ जीवन-रस को भी समान रूप से क्षति पहुँचेगी। अस्तु आपत्ति धर्म की तरह यदि दवाओं का उपयोग भी करना पड़े तो अनिवार्य आवश्यकता के समय, सीमित मात्रा और सीमित समय तक ही उनका उपयोग करना चाहिए। उपचार के समय यह ध्यान रखा जाए कि रोगों की जड़ काटने के लिए संग्रहीत मलों को बाहर निकालने वाले उपवास, वस्ति जैसे शोधक उपाय ही स्थायी समस्या हल करते हैं। औषधियों से रोग मुक्ति की इस प्रताङ्गना से बचकर यही प्राकृतिक मार्ग अपनाने में ही सुरक्षा और लाभ है।

● दवा से रोग दबते भर हैं—जाते नहीं

शरीर की मूल प्रकृति बीमार होने की नहीं है। सृष्टि के असंख्य प्राणियों को अपने-अपने ढंग के शरीर मिले हैं, वे निर्धारित आयु तक बिना किसी व्यथा-बीमारी के जीवित रहते हैं। मृत्यु-

दुर्घटना आदि तो अपने हाथ की बात नहीं, पर बीमारी का उत्पादन अपना निजी है, उसे अपनी रीति-नीति बदलकर, आसानी से रोका जा सकता है। स्वास्थ्य सुरक्षा की सर्वाधिक निरापद नीति यह है कि प्रकृति के अनुरूप अपना आहार-विहार, रहन-सहन बनाये रखा जाये, जैसा कि सृष्टि के सभी प्राणी बनाये रखते और चैन से जीते हैं। इंद्रियों का संयम बरता जाये, दिनचर्या ठीक रखी जाये, श्रम और आराम का संतुलन रहे, मस्तिष्क को उत्तेजनाओं से बचाये रखा जाये, स्वच्छता का ध्यान बना रहे तो इन मोटे नियमों का पालन भर करने से बहुत हद तक छुटकारा मिल सकता है। स्व-उपार्जित बीमारियों का ही बाहुल्य रहता है—बाहर से तो बहुत कम आती हैं। मौसम का प्रभाव, वंशगत विकार, छूत, दुर्घटना आदि कारणों से भी अप्रत्याशित रोग हो सकते हैं, पर उनका अनुपात बहुत स्वल्प रहता है। उन्हें अपवाद भी समझा जा सकता है। मूल उत्पत्ति तो अपनी ही उच्छृंखलता से होती है। अव्यवस्थित और विकृत आदतों का शिकार होकर ही मनुष्य बीमार पड़ता है। आमतौर से औषधि उपचार ही रोग-निवारण के लिए प्रयुक्त होता है, पर ध्यान रखने योग्य बात यह है कि उसमें लाभ की मात्रा से कम हानि की मात्रा नहीं है।

मारक औषधियाँ घातक अस्त्र की तरह हैं, जिनमें मारकाट मचाने की क्षमता तो है, पर इतनी बुद्धि नहीं है कि कुश्ती लड़ रहे दो पहलवानों में से एक को बचाने और दूसरे को गिराने की भूमिका निभा सकें। उनके लिए मित्र-शत्रु का अंतर करना संभव नहीं। आग लगती है तो उपयोगी, अनुपयोगी दोनों को ही जलाती है। शरीर में रोग-कीटाणु किसी एक जगह इकट्ठे नहीं बैठे रहते। जहाँ हमला करके उन्हें मार गिराया जा सके, स्वस्थ रक्त कण उन विषाणुओं से गुत्थम-गुत्था करने में जुटे होते हैं। ऐसा कोई उपाय अभी तक नहीं ढूँढ़ा जा सका, जो मात्र विषाणुओं को तो मारे, पर स्वस्थ संरक्षकों को बचा ले। औषधियाँ पाचन तंत्र में

होकर रक्त में पहुँचती हैं अथवा सुई लगाकर सीधी रक्त में प्रवेश कराई जाती है। हर हालत में रक्त में भी ऐसी विषाक्तता का समावेश करना पड़ता है, जो रोग-कीटाणुओं का संहार कर सके। स्पष्ट है कि इस मरण अनुष्ठान का प्रभाव आक्रमण और संरक्षक दोनों ही पक्षों पर समान रूप से पड़ता है। दोनों की ही हानि समान रूप से होती है। ऐसी दशा में शत्रु नाश के सौभाग्य के साथ-साथ मित्र नाश की क्षति भी उठानी पड़ती है। संरक्षण तत्त्व घट जाने से शरीर की निरोधक सामर्थ्य घट जाती है, फिर पुराने शत्रुओं को उभरने और नये को घुस पड़ने के लिए खाली मैदान हाथ लगता है और वे फिर अधिक निश्चिंततापूर्वक अपनी विनाश लीला रचते हैं या इतना अवश्य होता है कि स्वस्थ कण विजातीय तत्त्वों को मार भगाने का जो प्रबल प्रयत्न करते थे और जिसकी अनुभूति तीव्र रोगों के रूप में होती थी वह नहीं होती। निरोध से असमर्थ शरीर रोगों के आक्रमण का मंद प्रतिरोध करता है। अस्तु जीर्ण रोगी ऐसे ही कसमसाते रहते हैं, जोर से रोते-चिल्लाते नहीं, किंतु इससे क्या, जीवनी शक्ति घट जाने से क्रियाशीलता तो नाम मात्र की ही रह जाती है। थका-हारा, क्षत-विक्षत शरीर किसी प्रकार मरण के दिन पूरे करता है, उनमें पुरुषार्थ की क्षमता ही नहीं रहती है। ऐसे लोग पूरी जिंदगी भी नहीं जी पाते, उन्हें अकाल मृत्यु से मरना पड़ता है।

पूरी या अधूरी संज्ञा शून्य करने वाली दवाओं के नाम रूप बढ़ते जाते हैं। इसके लिए अनेकों रसायन ढूँढ़ लिये गए हैं। अब अकेली अफीम ही इस कार्य को पूरा नहीं करती, उसकी अनेकों सहेलियाँ मैदान में आ गई हैं, जो उसका हाथ बँटाती और बोझ हल्का करती हैं। 'एस्प्रीन' प्रसिद्ध दवा है, जो सिर दर्द को राहत पहुँचाती है। अफीम के सत्त्व की सुइयाँ लगाकर अभी भी वेदना की अनुभूति को रोक दिया जाता है। निद्रा लाने वाले रसायन भी लगभग यही करते हैं। इस उपचार से रोगी का चिल्लाना तो दूर हो

जाता है, पर रोग की विनाश लीला में कोई अंतर नहीं पड़ता। पीड़ा में जहाँ कष्ट होता है, वहाँ एक लाभ भी है कि उससे निवारक संघर्ष तीव्र होता है और रोग की निवृत्ति में भारी सहायता मिलती है। कष्ट की अनुभूति घट जाने से उस मोर्चे पर युद्ध सैनिक भेजने और विकृति को परास्त करने की चिंता से मस्तिष्क को छुट्टी मिल जाती है। फलतः रोगों को अपनी जड़ जमाने का अधिक अच्छा अवसर मिल जाता है। इस प्रकार शामक औषधियों से वेदना निग्रह में जितनी राहत मिलती है, उतनी ही यह कठिनाई भी बढ़ती है कि प्रकृति का निरोधक संघर्ष शिथिल पड़ जाने से बीमारियाँ अपना अड़डा जमाकर बैठ जाने में सफल हो जाती हैं।

आपत्तिकालीन सुरक्षा के लिए औषधि ली जा सकती है। उन्हें न छूने जैसा दुराग्रह करने की आवश्यकता नहीं। ध्यान रखने की बात इतनी ही है, मूल समस्या स्वास्थ्य रक्षा के नियमोपनियमों का पालन करने की है। उस ओर ध्यान न दिया गया तो औषधि उपचार का लाभ जादू का तमाशा देखने जैसा खिलवाड़ बनकर ही रह जाएगा। मूल समस्या का चिरस्थायी समाधान उतने भर से हो नहीं सकेगा। प्रकृति का अनुसरण करने और आहार-विहार के नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करने से ही निरोग जीवन जी सकना संभव हो सकता है।

स्वास्थ्य संवर्धन के लिए टॉनिकों का-पौष्टिक आहारों का आसरा तकने से काम नहीं चलेगा। यदि उनके सहारे बलिष्ठता संभव रही होती तो साधन संपन्न लोगों में से एक भी कमजोर दिखाई न पड़ता; वे पैसा खर्च करके प्रचुर परिमाण में पुष्टई खरीद लिया करते। तब संसार में एक भी धनवान् व्यक्ति दुर्बल दिखाई न पड़ता। इसी प्रकार यदि औषधि उपचार से रोग-निवृत्ति संभव रही होती तो कम से कम चिकित्सा-व्यवसायी और औषधि निर्माता तो बीमार नहीं ही दिखाई पड़ते। वे दूसरों की तो उपेक्षा भी कर सकते थे, पर अपनी एवं अपने स्वजनों की रुग्णता क्यों सहन करते ?

अपने लिए तो अच्छी औषधियाँ बना ही सकते थे और निदान-उपचार के सहारे अपने घर से तो बीमारियों को निकाल बाहर कर ही सकते थे, पर ऐसा होता कहाँ है ? सच तो यह है कि चिकित्सकों के घरों में बीमारियाँ सामान्य लोगों की तुलना में कम नहीं कुछ अधिक मात्रा में ही घुसी रहती हैं। दूसरे लोगों को औषधियों पर जितना अविश्वास होता है, डॉक्टरों के घरों में उससे कम नहीं अधिक ही अविश्वास पाया जाता है। सामान्य लोग तो औषधियों के स्वाद एवं पैसा होने के कारण भी उन्हें खाने से आना-कानी करते होंगे, पर चिकित्सकों के घर वाले जानते हैं कि मुद्दतों से जेब खाली करते रहने वाले और आये दिन दवाखाने पर खड़े रहने वाले रोगी, जब इन औषधियों से कुछ राहत नहीं पा सके तो हमें ही उनसे क्या कुछ मिलने वाला है। इस अविश्वास के कारण ही उन घरों में दवादारु खाने के संबंध में उपेक्षा बरती जाती रहती है।

यदि बीमारियाँ सचमुच ही कष्टकारक लगती हों, उनके कारण होने वाली आर्थिक तथा दूसरे प्रकार की हानियाँ अखरती हों और उनसे पीछा छुड़ाना यदि वास्तविक रूप से अभीष्ट हो तो कारण और निवारण पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता होगी और यह देखना होगा कि अस्वस्थता के विष वृक्ष की जड़ें कहाँ हैं ? पत्ते तोड़ने से नहीं जड़ काटने से ही स्थायी निराकरण संभव हो सकेगा।

इलिच का कथन है—तथाकथित गुणकारी औषधियों का एक हानिकारक पक्ष भी है; जिसे प्रकट नहीं किया जाता और गुण ही गुण गाये जाते रहते हैं। दोष अपना काम करते हैं। जहाँ गुण पक्ष से यत्किंचित लाभ होता है, वहाँ उसके विषाक्त प्रभाव से होने वाली हानि इतनी बड़ी होती है कि तुलना करने पर औषधि सेवन का लाभ कम और घाटा अधिक रहता है। बहु प्रचलित 'पेन्सलीन' के साथ एलर्जी उत्पन्न करने वाले तत्त्वों पर ध्यान दिया जा सके

तो उसे प्रयोग करने से पूर्व सौ बार विचार करने और हर कदम फूँक-फूँक कर धरने की आवश्यकता पड़ेगी, कुछ समय पूर्व वेदना-हीन प्रसव के लिए थियेल्डोपाइट नामक औषधि ने विश्वव्यापी ख्याति कुछ ही समय में प्राप्त कर ली थी, किंतु जब उसके प्रभाव से विकलांग बच्चे उत्पन्न होने की बाढ़ आई तो उसके निर्माण एवं प्रयोग पर कानूनी प्रतिबंध लगाये गये। इसी प्रकार एक अन्य औषधि क्लोरम फेनिकोल को भी निषिद्ध घोषित किया गया था। सौंदर्य प्रसाधनों में प्रयुक्त होने वाली 'हैक्सा क्लीरफैन' के कारण उत्पन्न होने वाली हानियाँ सामने आई तो सुंदरता और कोमलता के नाम पर प्रयुक्त होने वाली इस दवा पर रोक लगाई गई।

रोग का होना यह प्रकट करता है कि शरीर में विजातीय द्रव्य भर गया है और उसके विरुद्ध जीवनी शक्ति ने खुली लड़ाई आरंभ कर दी है, साथ ही यह भी जानकारी मिलती है कि आहार-विहार में घुस पड़ी विकृतियाँ शरीर के ढाँचे की तोड़-फोड़ कर रही हैं। इस स्थिति के निराकरण के ऐसे सौम्य उपाय होने चाहिए जिससे जीवनी-शक्ति बढ़े और विषाणुओं को मिलने वाला परिपोषण बंद हो जाये। इसके लिए संचित मल के निष्कासन एवं अवयवों को विश्राम देने वाले उपाय अपनाए जाने चाहिए। उस ओर उपेक्षा रखी जाये और रोग के ऊपरी लक्षण-कष्ट को दबाया जाये तो इससे कुछ स्थायी समाधान न निकलेगा। बाढ़ का पानी मेड़ के एक रास्ते न सही दूसरे रास्ते बह निकलेगा। एक बीमारी अच्छी होते-होते दूसरी नई व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं, इससे प्रकट होता है कि मात्र ऊपर से ही लीपा-पोती हुई है, विभीषिका का अस्तित्व अपने स्थान पर यथावत् मौजूद है।

रोगों की उत्पत्ति कई कारणों की मिली-जुली प्रतिक्रिया है। वर्तमान रोगों में से अधिकांश को साइको सोमेटिक—आधि-व्याधि का सम्मिश्रण कह सकते हैं, उनमें शारीरिक और मानसिक दोनों ही विकृतियाँ जुड़ी रहती हैं। उनमें सामाजिक एवं आर्थिक दबाव भी

सम्मिलित रहते हैं। परिवार की उलझनों और समस्याओं पर सोचने की शैली भी आंतरिक संतुलन को बिगड़ाती हैं और उस गड़बड़ी का परिणाम कई प्रकार की चित्र-विचित्र बीमारियों में दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन काल के रोग निर्धारण, निदान विज्ञान में बीमारियों के लक्षण बताये गये हैं, अब उनसे भिन्न प्रकार के रोग दृष्टिगोचर होते हैं। डॉक्टर इन्हें कई रोगों का सम्मिश्रण कहकर, अपना समाधान कर लेते हैं, किंतु वास्तविकता यह होती है कि शारीरिक विकृतियों के साथ-साथ मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक परिस्थितियों में विषमताएँ घुस पड़ने के कारण उन्हें 'सन्निपात' नाम दिया जा सकता है। उन विचित्र रोगों का इलाज मात्र औषधियों से नहीं हो सकता, वरन् उसके लिए मानसिक सहानुभूति, आशा, उत्साह, विश्वास, साहस आदि उभारने से लेकर अन्यान्य समस्याओं के स्थायी अथवा कामचलाऊ समाधान खोजने होंगे। आज जिस प्रकार मल-मूत्र, रक्त आदि के परीक्षणों को महत्त्व दिया जाता है, उसी प्रकार रोगी की मनस्थिति एवं परिस्थिति जानने और उसका बहुमुखी समाधान खोजने की आवश्यकता पड़ेगी। यह समाधान जिस हद तक संभव हो सकेंगे, रोगी की व्यथा उसी अनुपात से हल्की होती चली जायेगी।

दवाओं की उपयोगिता एक सीमा तक ही है, उनके भयंकर प्रचार से प्रभावित होकर उनकी दासता स्वीकार कर लेने का अर्थ मुट्ठी भर लोगों की जेबें भरना है। दवाएँ खाते रहें, रोग बढ़ते रहें—यह ऐसा ही हुआ जैसे—‘अंधा रस्सी बट्टा जाये—बछड़ा उसको खाता जाए’ की कहावत। इस अज्ञान से बचने में ही अपनी समझदारी है।

कीटनाशक, अंततः अपने लिए घातक

*

हवा और पानी के बाद यदि कुछ शुद्ध बचा था तो वह था अन्न, किंतु दुर्खलिग्रस्त प्राणी केवल दूसरों का अहित करे, ऐसा आज तक दुनिया में कहीं हुआ नहीं। अधिक उत्पादन की बात जीवन की अन्यान्य आवश्यकताओं तक ही सीमित नहीं रही। अन्न की तो सर्वाधिक आवश्यकताएँ भी रहती हैं सो उस दिशा में ध्यान जाते ही विज्ञान-बुद्धि कीट-पतंगों को मास्ने के लिए समुद्यत हुई। फसलों की रक्षा के लिए कीड़ों को मारने के लिए तरह-तरह के कीटनाशक तैयार किये गए, पर उनके उपयोग में सावधानी न बरतने का दुष्परिणाम यह है कि यह कीटनाशक भी एक अलग समस्या बन गये हैं।

कीटनाशक उपायों में अब तक एक ही कारगर उपाय सोचा जा सका है कि विषेला रासायनिक घोल छिड़ककर जहाँ भी ये कीड़े हों वहाँ ही उन्हें मार डाला जाये। डी० डी० टी० प्रभृति औषधियों का प्रयोग इसी दृष्टि से अति उत्साहपूर्वक हुआ है, पर उससे भी कुछ हल निकला नहीं। एक तो इन कीड़ों की बढ़वार इतनी व्यापक होती है कि उन्हें मारने के लिए कीड़ों के लिए लगभग इतने ही मूल्य की दवाएँ चाहिए—जितना कि फसल का मूल्य होता है। उन्हें हर कोई न तो खरीद सकता है और न सही प्रयोग जानता है। अवांछनीय मात्रा में असावधानी से उनका प्रयोग किया जाए तो पौधों के नष्ट होने और उनके फल, बीज खाने वालों में विषाक्तता बढ़ जाने का खतरा स्पष्ट रहता है।

इन दवाओं के मंद उपयोग का भी जो दुष्परिणाम सामने आया है, उसने विचारशील वर्ग को चिंता में डाल दिया है। कीटनाशक औषधियाँ छिड़कें तो उनका प्रभाव पौधों पर ही नहीं अन्न, शाक, फल आदि पर भी पड़ता है और वे पेट में पहुँचकर

स्वास्थ्य संकट उत्पन्न करते हैं। गोदामों में अन्न को सुरक्षित रखने के लिए जो रसायन छिड़के जाते हैं, वे धूम-फिरकर खाने वालों के पेट में पहुँचते हैं और वह मंद विष भी कालांतर में विघातक परिणाम उत्पन्न करते हैं। छिड़काव से प्रभावित घास-भूसा खाने वाले पशुओं का दूध, धी और मांस भी अखाद्य बनने लगता है। इस प्रकार वह कीटनाशक रासायनिक उपचार कीड़ों को मारने में भले ही असफल रहे, पर मनुष्यों पर अपना प्रभाव जरूर डालता है।

रेकल कार्सन ने अपनी पुस्तक “दी साइलेंट स्प्रिंग” में अमेरिकी जनता की शारीरिक स्थिति की चर्चा करते हुए लिखा है कि यहाँ हर मनुष्य के शरीर में डी० डी० टी० एवं आर्गनोक्लोरीन समूह के विषेश रसायनों की मात्रा बढ़ती ही जा रही है। अभी यह परिणाम दस लाख पीछे १२ भाग है, पर यह क्रमशः बढ़ता ही जाएगा और फिर विविध स्वास्थ्य संकट उत्पन्न करेगा। कीटनाशक दवाएँ बनाने वाले कारखानों के कर्मचारियों में तो यह मात्रा ६४८ भाग तक पहुँच गई है। ब्रिटेन के स्वास्थ्य विज्ञानियों का चिंतन है कि कीटनाशक रासायनिक प्रभाव से मानवी आहार को किस प्रकार बचाया जाए। यह चिंता एक देश की नहीं, वरन् समस्त विश्व की समस्या है।

यहाँ एक और भी विचित्र समस्या है कि यह कीड़े जल्दी ही विषाक्त घोलों से अपनी रक्षा कर सकने योग्य क्षमता अपने में विकसित कर लेते हैं और उनकी नई पीढ़ियाँ ऐसी ढीठ उत्पन्न होती हैं, जिन पर इन रसायनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे इन छिड़कावों को अँगूठा दिखाते हुए अपना विनाश कार्य प्रसन्नतापूर्वक करते रहते हैं।

खाद्यान्न सुरक्षित रखने के लिए रेडिएशन—विकिरण का प्रयोग किया जा रहा है। रासायनिक खादों की भरमार है, उनके आधार पर खेतों में अधिक अन्न उपजाने की बातें सोची गई हैं। कीड़ों से खाद्य पदार्थों का बचाव करने के लिए डी० डी० टी०

कलोरेडेन, डेलद्रिन सरीखी औषधियों के छिड़काव का प्रचलन बढ़ रहा है। खेतों में भी कृमिनाशक घोल छिड़के जा रहे हैं। तत्कालिक समाधान मिलता है, पर दूरगामी परिणामों की उपेक्षा करते रहें तो फिर जिस मानव प्राणी के लिए खाद्य बढ़ाने और सुरक्षित रखे जाने का प्रयत्न हो रहा है, वह इस योग्य न रह जायेगा कि कुछ खा या पचा सके, तो आज की सफलता को असफलता से कम दुर्भाग्यपूर्ण न माना जायेगा।

डी० डी० टी० जैसे रसायन छिड़कने से कुछ कीड़े मरे, कुछ जहरीले बनकर जिंदा रह गये। उन्हें खाकर पक्षी मरे। चिड़ियों की चहचहाहट से जो वन-उपवन गूँजते थे, वे सब सुनसान हो गये। कारसन ने 'दि साइलेंट स्प्रिंग' गूँगा बसंत पुस्तक में पक्षियों के विनाश का दर्दनाक चित्र खींचा है और लिखा है, रासायनिक खादों और कृमिनाशक रसायनों ने प्रकृति का संतुलन ही बिगाड़ दिया। कीड़े मरे या न मरे यह गौण बात है, उन रसायनों से सनी घास खाकर पशु और बीज एवं कीड़े खाकर पक्षी विषेले बने। उनका मांस खाकर मनुष्यों के शरीर में विषाक्तता घुस गई और अब उसकी प्रतिक्रिया तरह-तरह की चित्र-विचित्र बीमारियों के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है।

अमेरिका तथा योरोप के कतिपय देशों में पशु-पक्षियों की प्रजनन क्षमता में भारी कमी आई है। अमरीकी कृषि विभाग ने अपने रोग निरोधक कार्यक्रमों में डी० डी० टी० आदि प्रभावी कीटाणुनाशकों पर अस्थायी रोक लगा दी है और उस हानि से बचने का उपाय खोजा जा रहा है, जो इन रसायनों के प्रयोग से उठानी पड़ती है।

लारेल (मेरीलेंड) स्थित ब्यूरो ऑफ स्पोर्ट फिशरीज एंड वाइल्ड लाइफ संस्थान के तत्त्वावधान में दो वैज्ञानिकों ने इस संबंध में विशेष खोज की है। इनके नाम हैं—आर० डी० पोर्टर और एम० एन० वायमेयर, उन्होंने कुछ पक्षियों पर परीक्षण किये। उनके

भोजन में इतनी अत्य मात्रा इन कृमिनाशक रसायनों की मिलाई जिससे प्रत्यक्षतः उन पर कोई घातक प्रभाव न पड़े। लगातार दो वर्ष तक उस परीक्षण के तीन परिणाम निकले—(१) घोंसलों में से उनके अंडे गुम होने लगे। (२) स्वयं पक्षी अपने अंडों का नाश करने लगे। (३) अंडों के ऊपर का खोल बहुत पतला पड़ गया। यह पतलापन १० प्रतिशत तक हो गया। फलस्वरूप वे अंडे तनिक से आघात से टूटने लगे। यहाँ तक कि मादा जब उन्हें सेने के लिए उठती-बैठती या करवट बदलती तो उतने में ही फूट पड़ते।

आश्चर्य यह था पक्षी अपने आप अपने अंडे खाने लगे। आमतौर से ऐसा कहीं अपवाद स्वरूप ही होता है कि कोई मादा अपने अंडे-बच्चों को खाती है। नासमझी या आपत्तिकाल की बात अलग है, सामान्यतया क्रूर या हिंसक समझे जाने वाले पशु-पक्षी भी अपने अंडे-बच्चों को प्यार करते हैं और उनकी रखवाली पर पूरा ध्यान देते हैं। पर यह पक्षी इतने भावना शून्य और आलसी हो गये कि खुराक ढूँढ़ने जाने का कष्ट उठाने की अपेक्षा घर में रखे इस भोजन से ही काम चलाने लगे। मातृत्व की प्रकृति प्रदत्त भावना और प्रेरणा को भी उठाकर उन्होंने ताक पर रख दिया।

यह प्रभाव था जो दो वर्ष के अंदर ही पक्षियों पर देखा गया और वह भी तब जबकि आहार में मिलावट की मात्रा १३ पी० पी० एम० (एक पी० पी० एम० बराबर है दसलाखवें भाग के) जितनी स्वत्य थी। अंडों की संख्या का घटना, उनका छोटा और हल्का होना तो प्रत्यक्ष ही था। कई पक्षी ऋतु सेवन करने के बाद भी गर्भ धारण करने से वंचित रहे, जबकि आमतौर से पक्षियों का ऋतु सेवन शत-प्रतिशत प्रजनन में ही परिणत होता है।

उनके स्वास्थ्य पर अथवा पीढ़ियों पर स्वत्य विष सेवन का क्या प्रभाव पड़ेगा ? यह जानना अभी शेष है। फिर आशंका यह की जा सकती है कि आगे चलकर उनके स्वास्थ्य में अवांछनीय

दुष्परिणाम देखे जा सकते हैं और पीढ़ियों पर बुरा असर पड़ सकता है।

इन सभी दुष्परिणामों को देखते हुए कीटनाशकों का उपयोग वहीं तक उचित है, जहाँ तक खटमल, जुएँ आदि ऐसे कीड़ों को मारने की बात है, जिनको मारते समय अन्य वस्तुएँ प्रभावित न हों, कृषि आदि में आवश्यक होने पर हल्के कीटनाशकों का छिड़काव किया जाए तो भी ठीक है, पर साथ-साथ लोगों को यह जानकारी भी दी जानी आवश्यक है कि इस तरह औषधि छिड़के अनाज को गोदामों से या फसल से प्राप्त करने के बाद किस तरह धोकर, साफ करके प्रयुक्त किया जाए, जिससे औषधियों के विषाक्त प्रभाव से रक्षा की जा सके अन्यथा यही कीटनाशक अपने लिए संकट पैदा करेंगे। लाभ उनसे राई भर होगा, हानि पहाड़ के बराबर होगी।



धरती को मार डालने का कुचक्र



इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि जिस प्रकार आहार-विहार को सुर्संयत रखकर, स्वास्थ्य रक्षा के सीधे उपाय को छोड़कर लोगों की समझ में आ गया है कि अप्राकृतिक और उच्छृंखल जीवन-क्रम बनाकर मनमानी की जाये और उसके दुष्प्रभाव से बचने के लिए दवाओं की शरण ली जाये। उसी प्रकार भूमि के बारे में भी यही नीति अपनाई गई है। उसे खरपतवार और गोबर की खाद से वंचित किया जा रहा है। पशु धन घटता चला जा रहा है और गोबर का दूसरा उपयोग हो रहा है। जो धास-पात खेत से ली जाती है, वह प्रकारांतर से उसे वापिस नहीं मिलती। ऐसी दशा में जमीन यदि कम उपज देने लगे तो यह स्वाभाविक ही है।

इस कमी की पूर्ति के लिए आज की सम्यताभिमानी उद्धृत बुद्धि कोई जल्दी पहुँचने वाली पगड़ंडी ढूँढ़ती है। दवाओं के आधार पर स्वास्थ्य-संरक्षण एवं रोग-निवारण की जो सनक कार्यान्वित हो रही है, वही तरीका भूमि के लिए भी अपनाया जा रहा है। रासायनिक खादों से भूमि को उत्तेजित करके, उससे अधिक कमाई करने की रीति-नीति अपनाई जा रही है। सोचा जा रहा है, इस तरह अधिक पैदावार का लाभ उठाया जा सकेगा।

जो प्रयोग हम आज करने चले हैं, उसे अमेरिका में बहुत पहले आजमाया जा चुका है। “जल्दी से जल्दी, अधिक से अधिक” लाभ उठाने की नीति अपनाकर, उन्होंने रासायनिक खादों का अंधाधुंध उपयोग किया, कुछ समय तक उसके लाभ भी मिले पर अंत में उस भूमि का अधिकांश भाग अपनी उर्वरा शक्ति खोकर बेकार हो गया।”

अमेरिका के कृषि विभाग की भूमि संरक्षक संस्था ने ‘हमारी बची हुई भूमि’ नामक एक पुस्तक छापकर उसमें रासायनिक खादों

के द्वारा भूमि पर पड़ने वाले कुप्रभावों का विस्तृत वर्णन किया था। उसमें बहुत भयंकर आँकड़े थे। लगता है रासायनिक खादों के उत्पादनकर्ताओं के दबाव या अन्य किसी कारण से उस पुस्तक के दुबारा छपने का अवसर नहीं आया।

उपरोक्त पुस्तक के तथ्यों की भयंकरता को घटाते हुए उस पुस्तक का एक सरल संस्करण 'हमारी उपजाऊ भूमि' के नाम से छपाया। यह पुस्तक एग्रीकल्चर इन्फार्मेशन बुलेटिन संख्या १०६ के क्रम से प्रकाशित है और १० सेंट मूल्य में गवर्मेंट प्रिंटिंग ऑफिस २५ डी. सी. से खरीदकर पढ़ी जा सकती है।

इस पुस्तक में लिखित उद्धरणों से विदित होता है कि रासायनिक खादों के प्रभाव से अमेरिका की २८ करोड़ एकड़ जमीन बर्बाद हो गई, जो कि उस देश के इलीनाय, आइयोवा, मिसूरी, कन्सास, नेव्रास्का और वायोमिंग राज्यों की कुल जमीन के बराबर होती है। इसके अतिरिक्त कृषि योग्य, चारागाह तथा जंगली ७७ करोड़ ५० लाख एकड़ भूमि और ऐसी है, जिसका बहुत कुछ अंश बर्बाद हो चुका है, पुस्तिका में वर्णन है कि केवल ४६ करोड़ एकड़ उपयोगी जमीन अमेरिका के पास बची है। पेट भरने के लिए तो इतनी भी काफी है, पर यदि इसे सँभालकर नहीं रखा गया और पिछली गलतियाँ दुहराई जाती रहीं तो हर साल आगे भी ५० लाख एकड़ जमीन बर्बाद होती चली जायेगी।

रासायनिक खादों के नाम पर भूमि को विषाक्त और अनुत्पादक बनाने के साथ-साथ फसलों के छोटे रोग कीटाणुओं को नष्ट करने तथा दीमक, चूहे एवं पक्षियों से उसे बचाने के लिए विषैली दवाओं के घोल छिड़कने का प्रयोग चल रहा है। उसका परिणाम भी ऐसा निराशाजनक हो रहा है कि जितना लाभ फसल को बर्बादी से बचाने के नाम पर उठाया जा रहा है, उससे अधिक हानि उस अन्न से मनुष्यों और घारे से पालतू पशुओं के स्वास्थ्य की बर्बादी के द्वारा उत्पन्न की जा रही है। जितना लाभ उससे

अनेक गुनी हानि करने वाली बुद्धिमत्ता की किस तरह प्रशंसा की जाये ?

फसलों पर कीटाणुनाशक घोलों के छिड़के जाने से कीटाणुओं तथा पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों से होने वाली हानि को बचाने की बात सोची जाती है और यह अनुमान किया जाता है कि उससे फसल की बर्बादी बचेगी। इस प्रयोजन के लिए ऐसे विषाक्त कीटनाशक रसायनों का उत्पादन भी तेजी से किया जा रहा है। डी० डी० टी० तथा दूसरे रसायनों की वृद्धि तेजी से हो भी रही है। मेलाथियान सरीखे विष इसी प्रयोजन के लिए उत्पन्न किये जा रहे हैं। इनमें से कुछ औषधियाँ तो 'नर्व गैस' सरीखी युद्ध में काम आने वाली भयंकर गैसों जैसी घातक होती हैं। पर हम यह भूल जाते हैं कि फसल, अन्न, फल आदि खाद्य-पदार्थों पर छिड़के हुए यह विष उन खाद्यों में ही समाविष्ट हो जाते हैं और अंततः मनुष्यों के पेट में ही पहुँचते हैं। यह विषैलापन मात्रा में कितना ही न्यून क्यों न हो, आखिर कुछ तो असर डालता ही है कि उससे सामान्य स्वास्थ्य पर असर पड़ना नितांत स्वाभाविक है।

अमेरिकन कृषि विभाग के अंतर्गत 'एंटोमोलाजी रिसर्च' शाखा ने इन कीटाणु-नाशक विषों की प्रतिक्रिया की जाँच कराई तो मालूम हुआ कि दस साल के लगातार इस विष सिंचन से ६ इंच गहराई तक की भूमि में डी० डी० टी०, वी० एच० सी० और लिंडेन तथा आलोरीन के अंश खतरनाक मात्रा में मिले हुए थे। इलीनायस, न्यूजर्सी राज्यों की जमीनें भी ऐसी ही विषाक्त पाई गई। विचारशील लोग यह अनुमान लगा रहे हैं कि भूमि में बढ़ाई विषाक्तता की यह अभिवृद्धि अंततः मानवीय आहार को भी विषाक्त ही बनाकर रहेगी और उसके परिणाम उसे भुगतने पड़ेंगे।

फल, पूल, दूध, शकर, साग, अन्न हम जो कुछ खाते हैं, उनमें अधिकांश कार्बन तत्त्व होता है। कार्बन हवा और मिट्टी में पाया जाता है। अन्य अकार्बनिक तत्त्व और खनिज, पौधों को पृथ्वी

से मिलते हैं। रासायनिक खाद्य इतनी उत्तेजित होती है कि वह खनिज तत्त्वों की भारी मात्रा निकाल देती है, जिससे उपज बहुत अधिक बढ़ जाती है। साधारण आलू का वजन १०० ग्राम से अधिक नहीं होता। एस्टोनियाई सोवियत समाजवादी जनतंत्र के “वीयदूतेये” सामूहिक कृषि फार्म में खुदाई करते समय वहाँ के मैनेजर को एक आलू इतना बड़ा मिला, जिसका वजन १ किलोग्राम २५० ग्राम था। यह अत्यधिक विकास रासायनिक खाद की कृपा से हुआ, पर मिट्टी की जाँच करने से पता चला कि उसमें खनिज तत्त्व क्रमशः घटते चले जा रहे हैं। एक बार में १२^१ गुना तक खनिज तत्त्व निकाल देने से भूमि का जीवन तत्त्व कितनी तेजी से नष्ट होता होगा, इसे आसानी से समझा जा सकता है, पर आज के लोगों का ध्यान तो सवा किलो के आलू की तरफ अधिक है। भूमि के जीवन तत्त्व नष्ट हो रहे हैं—यह कोई नहीं देखता।

लेडी ईव बैलफर ने अपनी पुस्तक “लिविंग सॉइल” में स्पष्ट कर दिया है कि यदि मनुष्य यह समझता है कि धरती निष्ठाण है तो यह उसकी भूल है। जिस तरह शरीर में जीवन है, पृथ्वी में भी ठीक वैसा ही जीवन विद्यमान है। खनिज द्रव्यों की चट्टान, सांद्रिय खाद तत्त्व तथा अति सूक्ष्म कीटाणुओं के सम्मिश्रण से मिट्टी बनी है। मनुष्य और प्राणि जगत् जो मलमूत्र निकालता है तथा वनस्पति जो जमीन पर गिर जाती है, उन्हें पृथ्वी के सूक्ष्म जीवाणु उसी प्रकार सांद्रिय खाद तत्त्व या प्राण में बदलते हैं, जिस प्रकार शरीर के जीवाणु खाद्य से शरीर को पोषण प्रदान करते हैं, हमारी जीवन व्यवस्था और पृथ्वी के जीवन में कोई अंतर नहीं है। इसलिये यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि उत्तेजक पदार्थों से जो निष्क्रियता मनुष्य शरीर पर आती है, ठीक वैसी ही पृथ्वी में उत्तेजक खादों से आती है। अतएव विज्ञान को अपनी इस उपलब्धि को महत्त्व न देकर उसे एक नशा ही समझना चाहिए, जो धरती के लिए कभी भी उपयुक्त नहीं हो सकती।

दूध और धी, मक्खन तथा छाछ से मिले जीवन तत्त्व की तुलना शराब और निकोटीन नहीं कर सकती, उसी प्रकार कंपोस्ट खाद, हरी खाद, मल-मूत्र की स्वाभाविक खादों से पृथ्वी को कहीं अधिक शक्तिशाली और दीर्घजीवी बनाया जा सकता है। हमारी धरती के संस्कारों का भी तो महत्त्व है, यदि उसकी इस उत्तेजना को रोका न गया तो यह कुसंस्कारित अन्न मनुष्य में दुर्बुद्धि के रूप में फूटेगा और अपने देश को भी योरोप की तरह उद्दंड, स्वेच्छाचारी, कामुक, शोषक एवं उपयोगितावादी प्रवृत्ति का बना देगा। यह हानि यह पृथ्वी के बाँझ होने से भी अधिक कटु है।

हम जब अंधानुकरण कर रहे हैं, तब अमेरिका के विचार इस दशा में गंभीरता से पीछे लौटने की सोच रहे हैं। जेम्स एंड ड्वाइट ने अपनी पुस्तक 'रैप ऑफ दि अर्थ' (धरती पर अत्याचार) में लिखा है—“अमेरिका में धरती पर अत्याचार हो रहे हैं। हजारों एकड़ भूमि रेगिस्तान बन गई। भूमि संरक्षण विकराल समस्या बन गई है।” एड्रेनवेल ने अपनी पुस्तक “खेत के लोग” (मेन ऑफ दि फील्ड्स) में लिखा है—रासायनिक खाद देकर पैदा की हुई चीज देखने में चाहे कितनी सुंदर और आकर्षक लगें, उनमें प्राकृतिक खाद के समान ओज, स्वत्व और जीवन शक्ति नहीं है; पर गरीब किसान के अनुभव को कौन पूछता है ? आज तो विज्ञान के अभिमान में पड़े तथाकथित बुद्धिवादी लोग अपने उद्योग और कारखानों को चलाये रखने के लिए रासायनिक खादों का धुआँधार प्रचार कर रहे हैं। गरीब किसान, भोला किसान उनकी चतुरतापूर्ण, छलप्रपंच से सनी बातों को समझ नहीं पाता और तो और जनता के कर्णधार जो कृषि विशेषज्ञ या कृषि शिक्षक हैं, वे तक अपनी नौकरियों पर टिके रहने के लिए न तो ग्रामीण जनता के हित की बात सोचते हैं न आने वाली पीढ़ी और अपने ही दीर्घ कालीन जीवन तत्त्व के रक्षण की बात।”

इंग्लैण्ड के विचारशील लोगों ने ‘सॉइल एसोसिएशन’ नामक एक संस्था गठित की है, वह तथाकथित सुधारवादियों से मोर्चा लेने को तत्पर है। इस संस्था में कई बड़े वैज्ञानिक, डॉक्टर और कृषि विशेषज्ञ हैं। संस्था ने घोषणा पत्र में कहा है—“हम एटमबम के खतरे को जानते हैं, पर आज धरती का जो शोषण हो रहा है उससे बेखबर हैं। इसलिए जनता को इसके प्रति जाग्रत् करना जरूरी है। क्या हम चाहते हैं कि इतिहास हमारे बारे में यह लिखे कि यह एक ऐसी पीढ़ी थी, जो मृत्यु के कार्य में इतनी व्यस्त थी कि जीवन के मूल रूपों दूँढ़ने के लिए उसे कभी अवकाश ही नहीं मिला या हमारे बारे में यह लिखा जाये कि यही पहली पीढ़ी थी, जिसने धरती को क्षीण होने से बचाया और मानव जीवन की मूलाधार—धरती की उर्वरा शक्ति को बनाये रखा।”

दोनों प्रकार के भविष्य हमारे हाथ में हैं। आज जबकि तथाकथित शिक्षित लोग ही दूरदर्शी और विवेकशील नहीं रहे गाँव की जनता को आप ही निर्णय करना होगा कि ऊपर के दोनों निष्कर्षों में वे किसे पसंद करते हैं ? पृथ्वी की प्राकृतिक तौर पर शक्तिशाली बनाने में रुचि हो सकती है या फिर उसे बाँझ करने में। यह आज की अहं समस्या है, जिस पर भावी पीढ़ियों का भविष्य निर्भर करेगा। अतएव उसे जितनी गंभीरता से बन पड़े सोचा, विचारा और क्रियान्वित किया जाना चाहिए। विज्ञान के क्षेत्र में मिली सफलताओं पर इतरा कर चल पड़ना तो एक प्रकार से बौद्धिक विक्षिप्तता ही होगी।

प्रकृति हमारी माँ है, उसे बछड़े के लिए भी बचाकर दुहने की मर्यादा में रहें, तो ही लाभ है। अन्यथा सोने का अंडा देने वाली मुर्गी का पेट चीरकर सारे अंडे निकालने की बात सोचने वाले लालची की तरह अपनी भी दुर्गति ही होनी है। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का उद्धृत स्वर्ज अंततः अपने ही पैर में आप कुल्हाड़ी मारने की तरह घातक सिद्ध होगा।

धरती को ही लें—वह हमारी माँ है। माँ से सत्कारपूर्वक दूध पीकर जीव जगत् मुद्दतों से अपना निर्वाह करता चला आ रहा है। पर स्वाभाविक क्रम का उल्लंघन कर हम तात्कालिक लाभ के लिए धरती का प्राण हरण करने के लिए उतारू होंगे तो पायेंगे कम, खोयेंगे अधिक। सृष्टि का एक संतुलित क्रम है, उसे यथावत् चलने देने से ही हमारी जीवन-रक्षा होगी। प्रगति की सीमा है, उसी में हमें रहना चाहिए। विशेषतया धरती-आकाश को जीतकर, उन्हें मन चाहे प्रयोग के लिए तो विवश नहीं ही करना चाहिए। धरती के साथ इन दिनों हम जो अत्याचार बरत रहे हैं, उसका परिणाम अगले ही दिनों विघातक विभीषिका बनकर सामने प्रस्तुत होगा। इस भूल को जितनी जल्दी सुधारा जा सके उतना ही अच्छा होगा।

रासायनिक खादों के स्थान पर कंपोस्ट खादों, हरी खादों के प्रचलन का विस्तार किया जा सके तो उससे एक स्वस्थ विकल्प बनता है। संतुलित मात्रा में यह खादें भी तैयार की जाएँ, पर उनका उपयोग उस मिट्टी पर किया जाना उचित है, जो बंजर या रेगिस्तानी जैसी है। रेलगाड़ी के इंजन को स्टार्ट करने जैसी स्थिति में कभी किसी अच्छे खेत में प्रयोग कर लें, यहाँ तक भी बात समझ में आती है किंतु संतुलन खोकर अंधाधुंध प्रयोग कर्ही इतना घातक न बन बैठे, जैसी आशंकाएँ व्यक्त की जा रही हैं, यह भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है, मात्र प्रगति के जोश में होश खोना घातक ही रहेगा।



अनियंत्रित प्रगति अर्थात् महामरण की तैयारी

*

सामान्य व्यक्ति का मस्तिष्क विकृत हो तो वह थोड़े ही व्यक्तियों का अहित कर सकता है। उसी तरह की दुर्बुद्धि वाले लोगों का एक समूह निकल पड़े तो हानि की संभावनाएँ निश्चित बढ़ती हैं किंतु यदि यही रोग राजसत्ताओं में व्याप्त हो जाये, तब तो यह समझना चाहिए कि महायुद्ध, महामरण की संभावनाएँ ही सुनिश्चित हैं।

राज सत्ता भी कोई जड़ वस्तु नहीं है, उस पर भी नियंत्रण मनुष्य का ही रहता है, चाहे वह राजतंत्र हो अथवा प्रजातंत्र। एक ओर मनुष्य की सुरसा की तरह बढ़ रही लालसाएँ और महत्वाकांक्षाएँ, अनियंत्रित विज्ञान का योगदान और उस पर भी निरंकुश औद्धत। आज विश्व के रंगमंच पर यह परिस्थितियाँ पूरी तरह घटाटोप छाई हुई हैं। वह मारण अस्त्र तेजी से बनते चले जा रहे हैं कि सृष्टि का किसी क्षण विनाश संभव है। आइंस्टीन का यह कथन—तृतीय विश्व युद्ध होगा या नहीं यह तो ज्ञात नहीं, पर यदि हुआ तो अगला युद्ध ईंट और पत्थरों से लड़ा जायेगा—नितांत सत्य है कि इस कथन में सृष्टि के महा-विनाश का दृश्य पूरी तरह झाँक रहा है।

यों पिछले दिनों रूस और अमेरिका के बीच एक रक्षा संधि हुई है, जिसमें दोनों देशों ने अधिक लंबी दूरी के मारक और घातक विस्फोटकों की संख्या घटाने पर सहमति प्रकट की है, पर वह एक चाल मात्र है। संख्या घटाने की आड़ में अस्त्रों की गुणात्मक श्रेष्ठता बढ़ाई जा रही हैं। स्थान कम घिरने और गिनती कम होने भर की सुविधा मिलेगी, वैसे उससे संहारक शक्ति में कोई कटौती होने वाली नहीं। समझौते की स्थाही

सूखने भी नहीं पाई थी कि पुराने अधिकाधिक घातक अस्त्रों का भंडार भरने की नीति का ही तुमुलघोष किया जाने लगा। अमेरिका के डिफेंस सेक्रेटरी मेल्विन लायड ने कहा—“समझौता व्यर्थ है, हमें जिंदा रहना है तो पन्डुब्बियों से फेंकी जाने वाली दूरमारक मिसाइलें बनानी ही होंगी, नहीं तो रूस हमें खा जायेगा।” अखबारों ने समझौते का मजाक उड़ाते हुए कहा, इससे हम आणविक सर्वोच्चता की नीति को आणविक नहीं आत्मनिर्भरता कहने लगेंगे। अब अणु शस्त्रों की दौड़ क्वांटिटी में न होकर, क्वालिटी में होगी।

विश्व के हर नागरिक, स्त्री-पुरुष-बच्चे के लिए २० टन बारूद तैयार है। बच्चा पैदा होने पर उसकी आवाज जितनी देर में उसकी माँ के कानों तक पहुँचती है, उतनी देर में उस जैसे बीस की जीवन-सत्ताओं का अंत कर देने वाली अणुशक्ति आज के कारखानों में उत्पन्न हो जाती है। इसका विस्तृत विवरण ब्रिटिश ब्राड कास्टिंग कारपोरेशन द्वारा बनाई गई वृत्त फ़िल्म दि डैथ गेम में दिखाया गया है।

सन् १९६६ में विश्व के १२० देशों की एक सर्वेक्षण समिति ने शस्त्रों पर संसार भर में होने वाले खर्चों का लेखा-जोखा एकत्रित किया था, तदनुसार संसार भर में जमा हुए शस्त्रों का मूल्य सन् १९६७ तक १३६,५०० करोड़ रुपया पहुँच चुका था। इसके बाद अब तक जो उत्पादन हुआ है, उसे कम से कम दूना तो कहा ही जा सकता है।

सन् १९६७ तक के ऑकड़े बताते हैं—संसार के हर मनुष्य पीछे मारने वाली सामग्री ४२० रुपया लागत की जमा हो चुकी है। संसार भर में १६२ देश हैं, उनमें से २८ देश ऐसे हैं जिनकी प्रति व्यक्ति पीछे औसत आय ४२० रु. से कम है। इनमें एक भारत भी शामिल है। अनुमान है कि यह व्यय इसी दशाब्दी में ३,००,००० करोड़ से ऊपर निकल जायेगा। यह राशि इतनी बड़ी होगी कि

यदि सौ रुपये के नोटों की माला बनाई जाये तो वह धरती से चंद्रमा की दूरी की साढ़े सात बार परिक्रमा कर लेगी।

दरिद्रता मिटाने के लिए विश्व भर में जितना धन खर्च किया जाता है, उसकी तुलना में शस्त्रों पर २० गुना अधिक खर्च होता है। स्वास्थ्य पर खर्च होने वाली राशि से यह तीन गुना अधिक है। इस धन से दो करोड़ लोगों के निवास के लिए बढ़िया मकान बनाकर दिये जा सकते हैं।

युद्ध में आदमी को मारने की लागत दिन-दिन महँगी होती चली जा रही है। जूलियस सीजर के जमाने में एक सैनिक मारने में सिर्फ ५ रु. खर्च आते थे। नैपोलियन के जमाने में दो हजार तक हो गई थी। प्रथम युद्ध में अमेरिका ने एक व्यक्ति मारने पर डेढ़ लाख रुपया खर्च किया। दूसरे युद्ध में यह लागत दस गुनी बढ़ गई, जबकि वियतनाम युद्ध में हर गुरिल्ला को मारने में १३ लाख रुपया खर्च का औसत आया है।

अमेरिका का प्रमुख उद्योग युद्ध-सामग्री का उत्पादन है। इसे वह विश्व भर में सप्लाई करता है। द्वितीय युद्ध के बाद उसने २० लाख राइफलें, १ लाख मशीनगनें, १० हजार लड़ाकू जहाज, २० हजार टैंक, ३० हजार प्रक्षेपणास्त्र, २५०० पनडुब्बियाँ दूसरे देशों को बेची हैं। यह ऑकड़े तेईस वर्ष पुराने हैं। यह संख्या इस बीच दूनी हो गई हो तो कुछ भी अचंभे की बात नहीं है। सन् १९७१ में अमेरिका का युद्ध बजट ७७.५ अरब रुपया था अब वह १०० अरब वार्षिक सीमा तोड़कर आगे बढ़ गया है।

तीर तलवार, बंदूक और तोपों का जमाना अब चला गया, उन साधनों से थोड़ी-थोड़ी संख्या में मनुष्य मरते थे और चलाने वाले के पराक्रम एवं कौशल की परीक्षा होती थी। अब तो एक दुर्बल बीमार के लिए भी यह संभव हो गया है कि वह समस्त सृष्टि का नामोनिशान मिटाकर रख दे। विशाल क्षेत्र को

प्राण रहित बना दें। मिसाइल—एंटीमिसाइल—बनते चले जा रहे हैं। इन पर लादकर अणुबम संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक भेजा जा सकता है और प्रयोगशाला की कोठरी में बैठे हुए बटन दबाने मात्र से किसी भी क्षेत्र का सर्वनाश किया जा सकता है।

अमेरिका में अणु प्रहार कर सकने की सामर्थ्य वाले केंद्रों की संख्या अब से कुछ वर्ष पूर्व ४६०० थी। सन् १९५५ तक वह ११००० हो गई। रूस में ऐसे केंद्र तो २००० ही हैं, पर उनमें गुणपरक श्रेष्ठता बढ़ाने के प्रयत्न तेजी से चल रहे हैं।

पिछले दिनों जितने अणु अस्त्र बन चुके थे, उनमें इस सुंदर पृथ्वी को ७४ बार ध्वस्त किया जा सकता था। पर तब से अब तक तो वह क्षमता लगातार बढ़ती ही चली आ रही है और अनुमान लगाया जाता है कि इन अणुओं से अपनी जैसी ५० धरती एक साथ चूर्ण-विचूर्ण करके, आकाश में धूल की तरह उड़ाई जा सकती हैं। विशेषज्ञ प्रो० बैरी कामनर ने कहा था—टेक्नालोजी द्वारा प्रकृति के साथ असामान्य छेड़-छाड़ करने का वर्तमान क्रम यदि इसी तरह जारी रहा तो वह दिन दूर नहीं जब यह धरती मनुष्यों के रहने योग्य ही नहीं रहेगी। प्रकृति आज हमारी रक्षक है, पर संतुलन बिगड़ जाने पर वही भक्षक बन जायेगी। प्रकृति पर विजय पाने की धुन में हम उसका संतुलन बिगाड़ते जा रहे हैं। प्रकृति की खोज करना और उसके रहस्यों से परिचित होकर, लाभान्वित होना तो ठीक है, पर इससे पहले हमें यह निश्चित करना चाहिए कि संतुलन बिगाड़ने की सीमा तक छेड़खानी न की जायेगी। अविवेकपूर्ण ढंग से हवा, पानी और मिट्टी को बिगाड़ते चले जाना, इस धरती पर रहने वाले समस्त प्राणियों का जीवन संकट में डालना है।

केवल परमाणु परीक्षणों की ही बात पर विचार करें तो उसके खतरे भी कम नहीं आँके जा सकते हैं। अब तक जितने परीक्षण हो चुके हैं, उनका दुष्परिणाम भी असंख्य लोगों को कितनी ही पीढ़ियों तक भुगतना पड़ेगा ? यदि अणु युद्ध नहीं भी हों किंतु परीक्षणों का वर्तमान सिलसिला इसी क्रम से चलता रहे तो भी उससे सर्वनाश की विभीषिका बढ़ती ही चली जायेगी। परीक्षणों से निकलने वाले रेडियो सक्रिय तत्त्व मारक विष ही होते हैं।

हवा, पानी और वनस्पतियों के सहारे शरीर में प्रवेश करते हैं और रक्तचाप, कैंसर जैसे जटिल रोग उत्पन्न करते हैं। अणु विशेषज्ञ डॉ० रैल्फलाफ ने चेतावनी दी है मनुष्य में रेडियो सक्रियता सहने की जितनी शक्ति है, उसका उल्लंघन परीक्षण की वर्तमान शृंखला करती चली जा रही है। अणु युद्ध की एक भयानक भूमिका तो यह परीक्षण ही करते चले जा रहे हैं। यह कदम न रुके तो हम सब बिना युद्ध के इस परीक्षण युद्ध के विनाश गर्त में गिरकर ही समाप्त हो जायेंगे। अनुमान है कि प्रत्येक अणु परीक्षण देर-सबेर में ५० हजार मनुष्यों की अकाल मृत्यु का कारण बनता है। यों वह प्रभावित तो हजार भील तक करेगी और न्यूनाधिक मात्रा में उस क्षेत्र के निवासियों को भयानक रुग्णता में ग्रसित करेगी और वह संकट पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलेगा।

रासायनिक और जीवाणु आयुधों का विरोध भी प्रबुद्ध जनता द्वारा होता रहा है, पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ अमेरिका के जिन विश्वविद्यालयों में जीव विषय पर खोज हो रही है, वहाँ के छात्र उस खोज का विरोध और बहिष्कार कर रहे हैं, पेंसिलवानिया विश्वविद्यालय के फिजीकल बायो-केमिस्ट्री विभाग के ११ प्रोफेसरों के पदवी दान समारोह में गैस मास्क पहनकर, इन शोधों पर विरोध किया था। १७ नोबल

पुरस्कार विजेता और विज्ञान एकादमी के १९७ सदस्य इन प्रयोगों पर रोष प्रदर्शित कर चुके हैं।

विज्ञानी पत्रकार नाइर्जल कैल्डर द्वारा संपादित एक पुस्तक एलन लेनाद पेंगिन प्रेस से प्रकाशित हुई है—नाम है 'अनलेस पीस कम्प्स'—इसमें संसार के प्रमुख १४ राजनीतिज्ञों, युद्ध विशारदों और वैज्ञानिकों ने एक-एक अध्याय लिखा है, सभी लेख बहुत ही तथ्यपूर्ण तथा मननीय हैं। इसमें भावी युद्ध की विभीषिकाओं का विवेचन, निरूपण करते हुए निष्कर्ष निकाला गया है कि विज्ञान और युद्ध दोनों एक साथ जीवित नहीं रह सकते। दोनों में से एक को तो हर हालत में मरना ही पड़ेगा, भले ही यह फैसला तीसरे महायुद्ध के उपरांत हो अथवा पहले।

विज्ञान की शोधें आणविक, रासायनिक तथा विषाणु आयुध जिस तेजी से बना रही हैं, उसका विस्तार क्रमशः होता ही चला जायेगा। आज जो निर्माण महँगा है, उसी के कल सस्ता होने का रास्ता निकल आएगा। यह घातक अस्त्र अभी थोड़े देशों के पास हैं, पर अगले दिनों वे प्रायः सभी के पास हो जाएँगे। गरीब देश भी सस्ते किस्म के घातक अस्त्र बना लेंगे। उत्कृष्टता भले ही कम हो पर मरण पर्व तो वे भी रच सकेंगे। तब उन पर नियंत्रण कर सकना कठिन हो जायेगा। कोई भी सिरफिरा आदमी किसी भी देश में नहीं निकलेगा ऐसी कोई गारंटी नहीं। राजनीति और विज्ञान के क्षेत्र में घुसा हुआ एक ही सनकी व्यक्ति सारी दुनिया का सफाया करने के लिए काफी है।

क्या सत्ताधारियों के पागलपन के विरुद्ध गरीब आदमी नहीं जूझ सकता ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि आयुधों के सम्मुख खड़े होकर लड़ने की ताकत मनुष्य में कभी नहीं रहेगी। पर एक नई शक्ति विकसित होगी,

वह है—छापामार ताकत। गरीब आदमी की इस ताकत को कोई छीन न सकेगा और इस आधार पर उच्छृंखल अहमन्यता को चुनौती दी जा सकेगी। कहा गया है कि 'छापामार' आंदोलन एक दर्शन के रूप में विकसित होगा और उसमें पीड़ित और पददलित जनता अपने को सेना के रूप में विकसित करके लड़ना आरंभ करेगी और अधिनायकों के प्रचार, संगठन और आक्रमणकारी तंत्रों को निरर्थक निष्फल बना देगी।

